जाति क्यों नहीं जाती ?

संपादन : डॉ॰ सुभाष चन्द्र

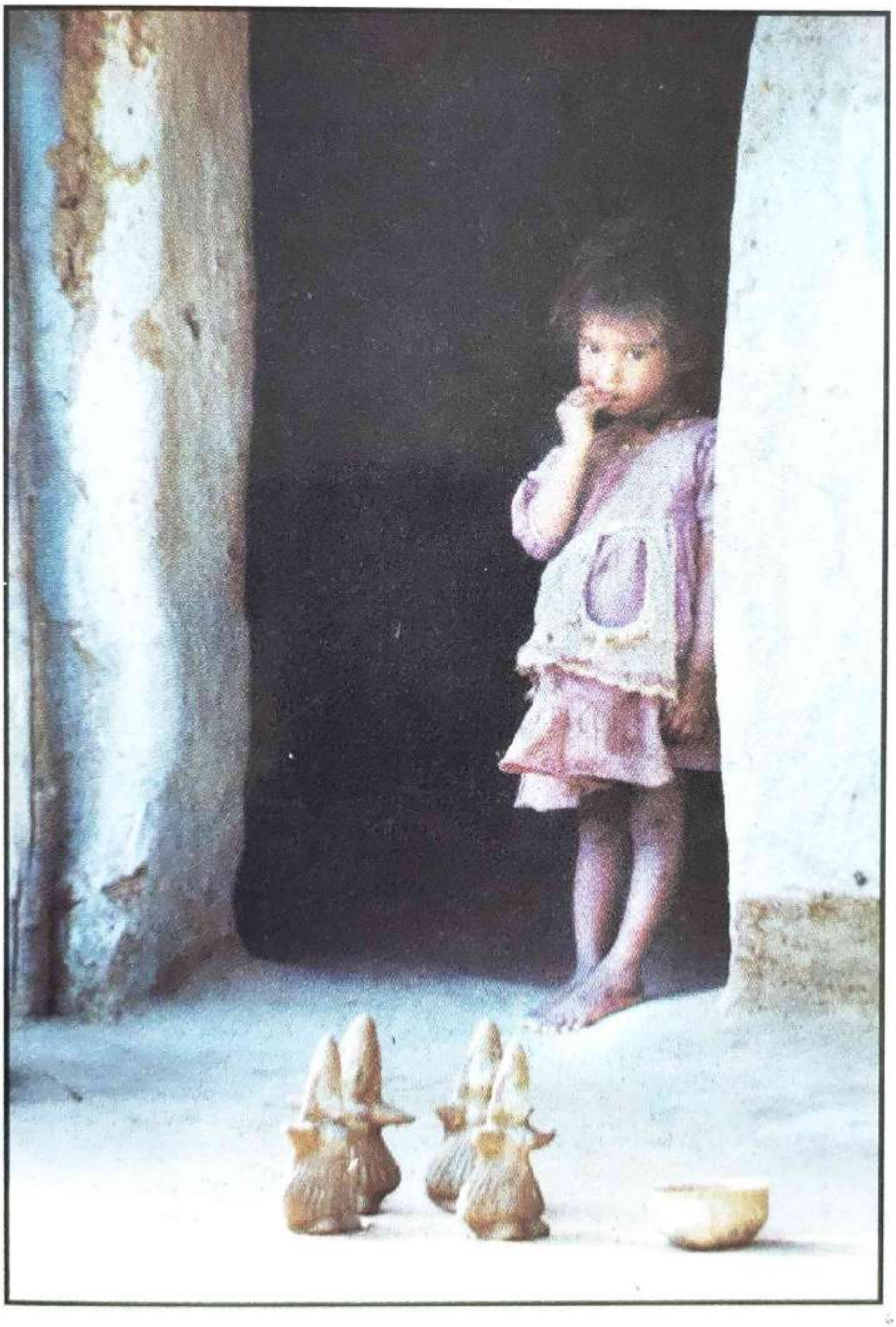

उद्भावना प्रकाशन

जोतिबा फुले, भीमराव अम्बेडकर, राहुल सांकृत्यायन,
प्रेमचंद, भगतसिंह, बी. टी. रणदिवे, शैलेन्द्र शैली

जाति क्यों नहीं जाती ?

© लेखक

प्रथम संस्करण : मई, 2005

द्वितीय संस्करण : अप्रैल, 2006

आवरण : मनोहर काजल

प्रकाशक : उद्भावना
ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रिएल एरिया,
जी. टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-95
फोन : 22582847, 22119770

मुद्रक : प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-95

मूल्य : 40 रुपये

अनुक्रम

1. जोतिबा फुले
सत्य धर्म, गुलामगिरी और किसान का कोड़ा 9

2. भीमराव अम्बेडकर
जाति-प्रथा उन्मूलन 28

3. राहुल सांकृत्यायन
तुम्हारी जात-पांत की क्षय 58

4. मुंशी प्रेमचंद
जाति-प्रथा पर विचार 66

5. भगतसिंह
अछूत समस्या 74

6. बी. टी. रणदिवे
जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध 80

7. शैलेन्द्र शैली
जाति क्यों नहीं जाती ? 113

8. (क) दस्तावेज
दलितों के साथ भेदभाव और उनके उत्पीड़न के विरोध में प्रस्ताव 123

(ख) दलित अधिकार कन्वेंशन का प्रस्ताव 128

भूमिका

ब्राह्मणवाद की विचारधारा मूलत: दो स्तम्भों पर टिकी है-एक वर्णव्यवस्था और दूसरी पितृसत्ता। वर्ण-व्यवस्था ने समाज की आधी आबादी को इंसान मानने से ही परहेज किया तो पितृसत्ता ने औरतों के स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगाया है। वर्णव्यवस्था और पितृसत्ता की विचारधारा के विरुद्ध आंदोलन भी होते रहे हैं, लेकिन इनका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ। आज की राजनीति ने अपने हितों के लिए जाति प्रथा को जिंदा रखा है। अब जाति एक राजनीतिक ईकाई बन गई है।

भारत की राजनीतिक पार्टियां जाति-प्रथा को तोड़ना नहीं चाहती यद्यपि अपने घोषणा पत्रों, दस्तावेजों और भाषणों में सभी पार्टियां जाति को और जातिवाद को समाज के लिए अभिशाप जैसी चीज मानते हैं, लेकिन इस बुराई व अमानवीय प्रथा को मिटाने के लिए कुछ नहीं करते बल्कि उसको पोषित ही करते हैं। पार्टियों के नेता स्वयं को 36 'बिरादरियों' का हित चिन्तक घोषित करते हैं जैसे कि 'बिरादरी' यानि जाति से बाहर समाज की कल्पना ही न की जा सकती हो।

एक और बात देखने में आती है कि पार्टियों के नेता, विशेषकर हिंदी क्षेत्र में, अपनी जातियों के नेता भी हैं। आश्चर्य होता है कि एक व्यक्ति 'जाट सभा' का अध्यक्ष भी है और किसी राजनीतिक पार्टी का भी अध्यक्ष है। एक व्यक्ति अन्य जाति का प्रधान भी है और दूसरी पार्टी का प्रधान भी। जबकि राजनीति में ऐसे लोगों को जगह नहीं दी जानी चाहिए। जाति के आधार पर समाज में नफरत फैलाने व जातिवाद को बढ़ावा देने वाले लोगों को होना तो चाहिए जेल में लेकिन वे मौज ले रहे हैं राजनीतिक सत्ता का।

चुनावों के दौरान उम्मीदवारों का निर्णय करने में इस बात का महत्व अधिक है। जिस हलके का चुनाव है उसमें जाति के आधार पर मतदाताओं की संख्या इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विधानसभा व लोकसभा हलकों की पहचान भी जाति के रूप में हो गई है कि अमुक हलका ब्राह्मण हलका है, अमुक हल्का सैनी हलका है तो अमुक जाट या यादव। जाति के आधार पर मतदाताओं की गणना राजनीति को कैसा स्वरूप प्रदान करती है ? चुनावों से पूर्व किए गए सर्वेक्षणों में भी

जाति के आधार पर ही हार-जीत के प्रयास लगाए जाते हैं और पूरा चुनाव जाति का चुनाव हो जाता है।

जातियों को खुश करने के लिए चुनाव से ऐन पहले ऐसी घोषणाएं की जाती हैं जिनसे उस जाति के वोटों का चुनावी लाभ लिया जा सके। राजस्थान में जाटों के आरक्षण का मामला इसका उदाहरण है। इन क्रियाकलापों से जातियां वोट बैंक बन जाती हैं जिससे असली मुद्दे गौण होते चले जाते हैं और जातिगत गोलबंदी हावी होती जाती है।

बड़े-बड़े नेता भी अंततः एक जाति के नेता के रूप में पेश किए जाते हैं। और चुनावी गठबन्धनों के रूप में इसका असर पड़ता है। एक नेता पूरी जाति के वोटों के ठेकेदार के रूप में उभरकर आता है। उत्तर प्रदेश के कल्याणसिंह, बिहार में रामविलास पासवान, मध्य प्रदेश की उमा भारती, इनके उदाहरण हैं। महाराष्ट्र में मराठा व ब्राह्मण आदि किसके साथ हैं इससे वोट प्रतिशत किस पार्टी का कितना होगा चुनाव विश्लेषक यह अनुमान बताते हैं। जातियां ही पहचान बना रही हैं। जाति के नाम पर शिक्षण संस्थाएं, धर्मशालाएं आदि पूरे के पूरे संस्थान विकसित हो रहे हैं।

पहले वही लोग नेता बनते थे जो सामाजिक बुराईयों, कुरीतियों से लड़ते थे और समाज के विकास में सकारात्मक भूमिका निभाते थे। आजकल राजनीति में जाति एक शार्टकट है जिसका नेता बनना आसान है और बिना किसी विशेष मेहनत, सेवा व योग्यता के इतने लोगों का समर्थन मिलना भी आसान है। इसलिए नेताओं द्वारा जातियों को वोट-बैंक में बदलने तथा इस वोट बैंक को अपने पक्ष में भुनाने की कोशिश जारी है। चुनाव अब चुनाव नहीं बल्कि जाति युद्ध बनते जा रहे हैं।

विडम्बना यही है कि जातियों का यह अवसरवादी तबका जाति में निचले स्तरों पर जी रहे लोगों की आकांक्षाओं को पूरा नहीं करता। अपनी जाति में पनप रही बुराईयां जैसे दहेज, भ्रूण हत्या, महिलाओं के स्वास्थ्य एवं कुपोषण, वृद्धों की असुरक्षा आदि भी इनके एजेंडे पर नहीं होती। जाति-सेवा के नाम पर अधिक से अधिक काम होता है--दूसरे जाति के नेताओं द्वारा इस जाति के शोषण का विलाप या फिर जाति के नाम पर बने बड़े-बड़े भवनों को कुछ रकम दान में देना। यही है जाति सेवा का आजमाया हुआ तरीका। असल में यह भी उनकी अपनी ही सेवा है जिसके लिए वे अपनी जाति के गरीब लोगों से धन उगाहते हैं क्योंकि ये शिक्षा-भवन व धर्मशालाओं का प्रबन्ध इनके पास ही रहता है और यहां बैठकर बिरादरी का रोब दिखाने की जगह मिल जाती है।

भारतीय समाज असल में जाति-समाज है। प्रत्येक जाति का अपना समाज है, रोटी-बेटी का संबंध है। एक जाति दूसरी जाति से रोटी का संबंध रखती भी है

तो बेटी का संबंध दण्डनीय अपराध है और हिन्दुओं के पूज्य व आस्था के ग्रंथों में इसका विधान है और राजा को इस व्यवस्था का पालन करने के लिए कहा गया है। जातियों में ऊंच-नीच मौजूद है। जातियां समानता के सिद्धांत को नहीं, असमानता को पोषित व आधार देती हैं। भारत में बाहर से कई क्षेत्रों के लोग आए और उन्होंने यहां शासन किया लेकिन यहां की सामाजिक व्यवस्था को नहीं छुआ। इससे छेड़छाड़ नहीं की। शासकों के लिए जाति में बंटा समाज हमेशा मददगार रहा है।

आज भी जाति प्रथा मौजूद है। यद्यपि यह उस रूप में नहीं है। आधुनिक जीवन की अनिवार्यताओं, शिक्षा आदि के कारण इसके स्वरूप में बदलाव आया है। खासतौर पर रोटी से संबंध बदले हैं। लेकिन इसका रूप अभी भी मौजूद है।

सभी लोग मानते हैं कि जाति-प्रथा ने भारतीय समाज का बहुत अधिक नुकसान किया है। इस बात को पहचानकर इसके उन्मूलन के लिए आंदोलन भी चले थे। उन लोगों ने इसमें विशेषकर भाग लिया था जो इसका शिकार थे। जातिबा फुले और अंबेडकर ने जाति के अस्तित्व को मिटाने के लिए ही बीड़ा उठाया था लेकिन इस देश का दुर्भाग्य ही है कि जाति-प्रथा को जड़ से उखाड़ने की ताकत रखने वाले आंदोलन स्वयं जाति-प्रथा के कवच बन गए हैं और शासक वर्गों के तौर-तरीके अपनाकर 'जैसा है वैसा ही रहे' के सिद्धात में इसकी परिपाटी हो गए है।

जोतिबा फुले, अंबेडकर, भगतसिंह, राहुल सांकृत्यायन, मुंशी प्रेमचंद, बी.टी. रणदिवे, शैलेन्द्र शैली के विचारों को यहां दिया जा रहा है। इन्होंने जाति प्रथा के हर पहलू पर विचार कर इसे समाप्त करने के लिए प्रयास किए हैं। आज के समाज में जाति प्रथा को मिटाने के लिए राजनीतिक व समाजिक आंदोलन की जरूरत है। इसके लिए सबसे पहले जाति प्रथा की संरचना व स्वरूप को समझना आवश्यक है। इन विचारकों के विचार इसमें हमारी बहुत मदद करते हैं।

आशा है कि यह पुस्तक इस बुराई को जड़ से खत्म करने में कुछ न कुछ योगदान अवश्य करेगी।

उद्भावना, जो हमेशा जाति और सांप्रदायिकता के मुद्दों पर पुस्तकें / पुस्तिकाएं प्रकाशित करती रही है, ने इस पुस्तक को अपनी सीरीज़ का हिस्सा बनाया, उसके लिए हम श्री अजेय कुमार के आभारी हैं।

30 मई, 2005

सुभाष चन्द्र
एम.एन. कॉलेज, शाहबाद (मा.)

जोतिबा फुले

जोतिबा फुले आधुनिक भारत में क्रांतिकारी समाज परिवर्तन के आंदोलन के मूल प्रवर्तक हैं। जोतिबा फुले का सम्पूर्ण साहित्य मानव समाज को नयी प्रेरणा देने वाला व जातिवादी भारतीय समाज में समानता, भाईचारा, सामाजिक न्याय और स्वतंत्रता की चेतना जगाने वाला साहित्य है।

जोतिबा फुले ने पण्डा-पुरोहित को धार्मिक शोषक वर्ग कहा, नारी की गुलामी, शूद्रादि-अतिशूद्रों तथा किसानों के मुद्दों को उठाया। गांव के मुखिया, जमींदार, ब्राह्मण, बनिया, पटवारी आदि किसानों की अज्ञानता का लाभ उठाकर किस प्रकार उनका शोषण करते हैं इसका गहराई से विश्लेषण किया। राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द, जांभेकर, भंडारकर आदि समाज सुधारक व्यवस्था परिवर्तन नहीं चाहते थे बल्कि हिन्दू धर्म व समाज में कुछ सुधार की बात करते थे, जिसके फलस्वरूप इनके आंदोलन की पहुंच किसानों, दलितों, आदिवासियों तक नहीं हुई, वह शहरी विशेषकर उच्चवर्गों के लोगों तक ही सीमित रहा, जबकि जोतिबा फुले का आंदोलन समाज के दलित वंचितों तक गया।

यहां जोतिबा फुले की - सार्वजनिक सत्यधर्म, गुलामगिरी, किसान का कोड़ा नामक रचनाओं से कुछ अंश दिए जा रहे हैं । कहना न होगा कि इनसे आज के जातिगत समाज को समझने में बहुत मदद मिलती है।

धर्म-पुस्तक

बलवंतराव हरि साक्रवलकर : इस प्रकार क्या किसी भी धर्म-पुस्तक में सभी जीव-प्राणियों को सुख देने के संदर्भ में सत्य नहीं है ?

जोतीराव गोविंदराव फुले : इस धरातल पर मानव समाज ने जितनी धर्म-किताबें लिखी हैं, उनमें से किसी भी ग्रंथ में प्रारंभ से अंत तक समान सार्वजनिक सत्य नहीं है; क्योंकि हर धर्म-किताब में कुछ लोगों ने उस काल की स्थिति के अनुरूप मूर्खता की है। वे तमाम धर्म सभी मानव प्राणियों को समान रूप से हितकारी नहीं थे। स्वाभाविकता से उसमें कई समूह बन गए और वे एक-दूसरे की मन से घृणा और नफरत करने लगे।

दूसरी बात यह है कि यदि निर्माता हम सभी मनुष्यों का निर्माणकर्ता है, तो सभी मानव प्राणियों में हर व्यक्ति को सभी मानवी अधिकारों का उचित उपभोग करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं दिखाई दे

रहा है। मानव प्राणियों को कई तरह की मुसीबतों को, भारी कठिनाइयों को सहना पड़ता है।

सारांश, अपने इस सूर्यमंडल का और जिस धरती पर हम लोग रह रहे हैं, उस धरती का निर्माता यदि एक है तो उस धरती पर जितने देश हैं, वहाँ के लोगों का एक-दूसरे के साथ नफरत और घृणा तथा हर किसी में व्यर्थ की राष्ट्रभक्ति और व्यर्थ का धर्माभिमान क्यों मौजूद है ? उसी प्रकार इस धरती के कई देशों की सभी नदियाँ महासागर को जाकर मिलती हैं, फिर एक देश की ही नदी पवित्र कैसे हो सकती है ? क्योंकि वह महापवित्र नदी भी कुत्तों का मल-मूत्र अपने जलप्रवाह में लेकर महासागर में जाकर मिलाने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं करती है ?

बलवंतराव : तो फिर इस धरती के पृष्ठभाग पर जो लोग रहते हैं, उनमें से कुछ लोगों को महापवित्र मानकर, उनको भूदेव (ब्राह्मण) की तरह सम्मान देकर उनको ही श्रेष्ठ क्यों मानते हैं ?

जोतीराव : इस धरती के पृष्ठभाग पर सभी मानव प्राणी इंद्रियों से और बुद्धि तथा होशियारी से एक समान हैं। फिर उनमें से कुछ लोग खानदानी, पवित्र और श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं ? उनको सभी की तरह पैदा होकर सभी की तरह ही मरना है। फिर वे भी सभी लोगों की तरह अच्छे और बुरे गुणों में माहिर हैं। ऐसा है या नहीं ?

नारी

बलवंतराव : आपने पहले कहा है कि सभी औरतों को उनके मानवी हक का पता न चलने पाए, इसी इरादे से लोभी पुरुषों ने उनको पढ़ने-लिखने से दूर रखा, उनकी शिक्षा पर रोक लगा दी, इस तरह स्त्रियों पर कई जुल्म और ज्यादतियाँ हुई हैं, उनमें से नमूने के लिए कुछ मिसालें दें, यह अच्छा होगा।

जोतीराव : देखिए, पहले के जमाने में साठ-सत्तर साल के जर्जर हुए पोपले मरियल बूढ़े आर्य भट्ट ब्राह्मण पहली औरत के मरते ही अल्प उम्र की सुंदर लड़की से दोबारा ब्याह करके उस अबला की जवानी को मिट्टी में मिला देते थे किंतु नाबालिग अवस्था में अज्ञानी लड़की के विधवा हो जाने पर किसी भी हालत में दुबारा विवाह नहीं करना चाहिए, इसलिए कड़े प्रतिबंध लगाए गए थे। उसके परिणाम निम्न प्रकार से हुए हैं—पवित्रता का खोखला दिखावा

करनेवाले भयंकर बेशर्म आर्य ब्राह्मण अपनी अबला और दुर्बल भौजाई और बहू के यौवनास्वथा आते ही रात और दिन ऐसे उनका इतना पीछा करते हैं कि स्वाभाविक रूप से उनके कदम गलत रास्ते पर पड़ जाते हैं, और जब इस तरह से होता है तब उनको अपनी इज्जत बचाने के लिए मजबूर होकर गर्भपात करके भ्रूण हत्या करनी पड़ती है। इसी से आप अंदाज लगा सकते हैं कि धूर्त आर्य ब्राह्मण जाति में कितनी मात्रा में गर्भपात और भ्रूण हत्याएँ होती होंगी! इस सबके बारे में सही-सही कोई कुछ कह नहीं सकता।

बलवंतराव : मैं इस विकराल पाप का अनुमान करके बताने में पूरी तरह असमर्थ हूँ किंतु इस भयावह परंपरा को आर्य ब्राह्मणों ने आज तक अपनी जाति में क्यों बरकरार रखा? लगता तो यही है कि इस तरह की पैशाचिक परंपरा को कायम रखने से धूर्त आर्य ब्राह्मण जाति का अपने-आप विनाश होगा, ये लोग निर्वश होकर नष्ट हो जाएँगे। फिर ये लोग इस अघोर परंपरा को अपनी जाति से क्यों नहीं निकाल देते?

जोतीराव : इसका कारण है। नारी जाति को नीच समझने की उनकी परंपरा है और इसके समर्थन में कई धूर्त, चालाक ऋषियों ने धर्मशास्त्रों को लेकर कई संहिताएँ, स्मृतियाँ आदि रचकर पुरुषों को सबल आधार प्रदान किया। इसकी वजह से उन्होंने आज तक इस अघोर, नीच परंपरा को कायम रखा है। आप ही सोचिए कि आर्य ब्राह्मणों ने इस अघोर परंपरा को समाज में प्रचारित करके भोले-भाले अज्ञानी कुलकर्णी (कुलवाड़ी) सुनार आदि जाति के लोगों को भी अपनी नकल के लिए प्रेरित किया। और उन्होंने भी ब्राह्मणों की तरह ही अपनी बहू-बेटियों को उसी प्रकार की कठिनाइयों में डाला है। इस अन्याय को देखकर भी हम सभी के पर अन्यायी और दयालु निर्माणकर्ता को उनके अघोर दुष्ट आचरण पर क्या गुस्सा नहीं आता होगा? आता होगा।

जातिभेद

यशवंतराव : मानव प्राणियों में जातिभेद है या नहीं?

जोतीराव : मानव प्राणियों में मूल में जातिभेद नहीं है।

यशवंत: मानव प्राणियों में मूल में जातिभेद क्यों नहीं है?

जोतीराव : क्योंकि जानवरों, पंछियों में जातिभेद नहीं है। तो फिर मानव प्राणियों

में जातिभेद कहाँ से होगा ?

यशवंतराव : मानव प्राणियों में मूल में जातिभेद नहीं है, इसके बारे में आप यदि अच्छी तरह विश्लेषण कर सकें तो बहुत ही अच्छा होगा।

जोतीराव : जानवर-पंछी आदि इंद्रियों में पूरी तरह एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार दो पाँव वाले मानव प्राणी इंद्रियों में चार पाँव वाले प्राणियों से भिन्न हैं। इसीलिए आर्य ब्रह्मा ने अपनी इंद्रियों से सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस तरह के चार जातियों की (वर्णों की) उत्पत्ति की है। लेकिन मानवेतर गधे, कौए, घोड़े, बैल, कुत्ता, सूअर, चूहे, बिल्ली आदि प्राणियों में ब्राह्मण कौन है, क्या यह आप लोग मुझे बता सकते हैं ?

यशवंतराव : गधे, कौए, घोड़े आदि मानवेतर प्राणियों में ब्राह्मण किसको कहें, यह सिद्ध करना एकदम असंभव है। क्योंकि आर्य ब्राह्मण ऋषि जैसे लोग भी प्राचीन काल में जाहिरा तौर पर मांसाहारी थे। इसीलिए जानवर-पंछी आदि में जातिभेद है, यह सिद्ध करना एकदम असंभव है। सिर्फ मानव प्राणियों में ब्रह्मा की इंद्रियों से चार जातियाँ (वर्ण) बनी हैं, यह बात उन्हीं के धर्मशास्त्रों में कही गई है।

जोतीराव : तो फिर जानवर-पंछी, गधे आदि सभी प्रकार के प्राणी ब्रह्मा के किस इंद्रिय से उत्पन्न हुए हैं।

यशवंत: ये सारी बातें हम ब्राह्मणों के धर्मशास्त्रों के आधार पर बोल रहे हैं।

जोतीराव : तुम लोगों ने स्वयं आर्य ब्राह्मणों के धर्मशास्त्रों को पढ़कर उसके बारे में सही खोज की है या नहीं ?

यशवंत: नहीं, क्योंकि आर्य ब्राह्मण उन ग्रंथों को हमारी नजरों के सामने भी आने नहीं देते और यदि हमने उन धर्मग्रंथों को पढ़ने की अपनी इच्छा व्यक्त की तो वे ब्राह्मण उन ग्रंथों को हमें सुनने भी नहीं देंगे।

जोतीराव : तो केवल ब्राह्मणों के धर्मग्रंथों के बारे में तुम लोगों को निश्चित खोज-बीन करनी चाहिए। सिर्फ उनके मुँह की गप से जातिभेद वाली मक्कारी को तुम लोग अंधों की तरह आँखें मूँद करके क्यों मानते हो ? यह तुम्हारी शूद्रों की सीधी मूर्खता है।

यशवंतराव : ब्राह्मण सो ब्राह्मण, शूद्र सो शूद्र—हमने कितनी भी कोशिश की तब भी लगा शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकेगा, उसी प्रकार ब्राह्मण शूद्र नहीं हो सकेगा।

जोतीराव : क्यों, यदि आर्य ब्राह्मण लोग शूद्र नहीं हो सकते तो महामुनि ख्रिस्ता चार्य के बँगले पर ये अतिशूद्र महार, मातंग आदि लोगों की पंक्ति में बैठकर

मद्यपान क्यों करते हैं ? या पाव-बिस्किट क्यों खाते हैं ? इसके अलावा वे म्लेच्छ[1] आदि अतिशूद्रों की लड़कियों के साथ ब्याह करके अपना संसार बसाते हैं या नहीं ? इसलिए मेरा कहना यह है कि, 'ब्राह्मण : सर्वत्र पूज्यः' इस बात को तुम लोगों को अपने दिलो-दिमाग से निकाल देना चाहिए, इस वाक्य को तुम लोगों को अपने मन से हटा देना चाहिए, बस ठीक हो जाएगा।

यशवंतराव : तो इसी के आधार पर अपने इस अभागे बलिस्थान[2] में जगविरोधी धनगर, माली, कुनबी आदि कई जातियाँ हैं, क्या वे सभी झूठी हैं ?

जोतीराव : आपका यह सारा कहना विचार करने के बाद झूठ साबित होगा, ऐसा मुझे लगता है। मान लो, किसी एक आदमी के तीन बच्चे हैं और उनमें से एक बच्चे ने भेड़ पालने में अपनी सारी उम्र गँवा दी है, दूसरे ने फलों, सब्जियों आदि की खेती में अपनी सारी उम्र गँवा दी है और तीसरे ने खेत को जोतने, हल चलाने में, उसमें बोने, काटने में अपनी सारी उम्र गुजार दी है, तो आप इससे उन (पहला लड़का धनगर या गड़रिया, दूसरा माली और तीसरा कुनबी) तीनों लड़कों की तीन जातियाँ हैं, ऐसा कह सकते हैं ?

यशवंतराव : उन्हें ऐसा कैसे ठहराया जाएगा ?

जोतीरावः उसी प्रकार एक ब्राह्मण के तीन लड़के हैं, उनमें से एक लड़के ने अपने निर्वाह के लिए तबलजी का धंधा करने में अपनी सारी उम्र गँवा दी, दूसरे ने अपने निर्वाह के लिए वैद्य का (डाक्टरी) धंधा करके सभी लोगों को दवाइयाँ दीं, जाति का विधिनिषेध नहीं रखा और लोगों के शवों को फाड़ने-सिलने में अपना सारा जीवन खर्च कर दिया, और तीसरे लड़के ने पेट के लिए घर-घर जाकर रसोइया का काम करके, रोटियाँ पकाने में अपनी सारी उम्र गुजार दी। इस आधार पर क्या आप यह कह सकते हैं कि उसके पहले लड़के की गुरव[3] जाति है, दूसरे की वैदू [4] जाति है और तीसरे की रसोइया जाति है ?

---

1. अनार्य, विदेशी, यूरोपीय, ईसाई, मुसलमान लोग।
2. बलि राजा के नाम पर महात्मा फुले ने इस देश को 'बलिस्थान' कहा है। बलि एक शूद्र राजा था। इस तरह की पुराण कथा है। लेकिन ब्राह्मण कोशकार बलि को एक दैत्यराजा, राक्षसों का राजा मानते हैं। जो लोग ब्राह्मण, ब्राह्मणवाद, ब्राह्मण धर्म के विरोध में थे उनको दैत्य कहा गया।
3. किसी मंदिर का अब्राह्मण पुजारी। शिव मंदिर का अब्राह्मण पुजारी। महाराष्ट्र में गुरव नाम की एक जाति है।
4. वैदू का मतलब अड़ाणी वैद्य, आदिवासी गोंड की एक जाति, भट्ट की जमात में भी वैदू नाम की जाति है, जिसका पेशा जंगल-पत्ती से, कंद-मूलों से दवाई, चूर्ण बना करके बेचना है।

यशवंतराव : आप जैसा कहते हैं उस तरह कुछ साबित नहीं किया जा सकता। किंतु आपके इस सिद्धांत के अनुसार भंगिन (हलालखोर) की भी जाति नीच है या नहीं? क्योंकि वह हमेशा बहुत ही निचले स्तर का काम करती है।

जोतीराव : तुमको मालूम होगा कि हम दोनों के बचपन में हमारा पाखाना साफ करने का काम हम दोनों की माताओं ने किया है, फिर इस आधार पर उनको हलालखोरनी या भंगिन कहा जा सकता है?

यशवंतराव : हम दोनों की माताओं ने दूसरे बचपन में हमारा पाखाना साफ किया है, यह सच है। लेकिन उनको नीच कौन कह सकता है? अपनी माँ को नीच कहनेवाला इस धरती पर शायद ही कोई होगा, लेकिन मानव प्राणियों में क्या उनके गुणों के आधार पर जातिभेद नहीं ठहराया जा सकता? इसके बारे में आपका क्या कहना है?

जोतीराव : मानव प्राणियों में उनके गुणों के आधार पर जातिभेद ठहराया नहीं जा सकता है, क्योंकि मनुष्यों में कई लोग ऐसे हैं जो अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा देते हैं। और वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार तेज बुद्धि के होने के कारण होशियार और गुणवानों के चुनाव के मौके पर सफल होकर बड़े-बड़े पदों को सँभालने लायक होते हैं। और कुछ लोग अपने बाल-बच्चों को अच्छी शिक्षा देने के लिए बहुत ही मेहनत करते हैं लेकिन उन लड़कों के स्वभाव से जड़ बुद्धि होने की वजह से वे मूर्ख और निष्क्रिय होकर हर तरह के गलत-सलत काम करने के लिए मजबूर होते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि अच्छे गुणों या बुरे गुणों का संबंध हमेशा खानदान या वंश परंपरा से नहीं होता। सद्गुणी बृहस्पति जैसे लोगों के बच्चे भी स्वभाव से कभी-कभी सद्गुणी नहीं होते। इसी प्रकार धूर्त आर्य ब्राह्मणों के बच्चे हमेशा ही शंकराचार्य जैसे बुद्धिमान पैदा नहीं होते। इसी तरह अतिशूद्र चमार और भंगी के सद्गुणी बच्चे अवसर पा गए तो शंकराचार्य से भी बढ़कर बुद्धिमान और महामुनि नहीं होंगे, ऐसा कोई भी समझदार आदमी नहीं कह सकता।

धर्म

यशवंत: मजदूरी के रूप में अपने सभी ग्राहकों के कपड़े धोकर उस पर अपना निर्वाह करना यह धोबी का धर्म है या नहीं?

जोतीराव : मजदूरी के लिए हम सभी के कपड़े धोकर उस पर यदि धोबी अपना

निर्वाह करता है तो हम लोग भी कभी-कभार अपने कपड़े धोते हैं या नहीं ? इस तरह मजदूरी लेकर दूसरों के कपड़े धोना, यह एक तरह से धंधा हो गया, इसको किसी को क्यों धर्म कहना चाहिए ? उसी प्रकार कोई आर्य भट्ट ब्राह्मण दूसरे का शार्गिद बनकर उनके कपड़े धोकर अपना गुजारा करने लगा तो क्या उसको आप लोग धोबी कहेंगे ? और उस शार्गिद ब्राह्मण का धोबी जैसा वह धंधा उसका धर्म होगा ?

यशवंत: उसी प्रकार मजदूरी के लिए सभी लोगों की हजामत करके उस पर अपना गुजर-बसर करना यह हज्जाम का धर्म है या नहीं ?

जोतीराव : मजदूरी के लिए हम सभी के बाल काटना, यह यदि हज्जाम का धर्म है, तो हम लोग हमेशा अपने नाजुक जगह के बाल एक ओर जाकर काटते हैं या नहीं ? इसके अलावा किन्हीं धूर्त हज्जामों की बहुत ही धूर्त ब्राह्मणों से किसी मामूली कारण से तू-तू, मैं-मैं हो गई तो कई ब्राह्मण पैसा कमाने के उद्देश्य से बेझिझक बगल में नाइयों वाला झोला दबाकर दूसरों की हजामत करने का धंधा करते हैं। इस आधार पर आर्यभट्ट ब्राह्मणों का धर्म हज्जाम का धर्म हो गया, क्या यह कहा जायेगा ?

यशवंत: क्या मजदूरी के लिए हम सभी लोगों का पाखाना साफ करके उस पर अपना निर्वाह करना यह भंगी का (हलालखोर) धर्म है या नहीं ?

जोतीराव : मजदूरी के लिए हम सभी लोगों का पाखाना साफ करना यह यदि भंगी का धर्म है तो हम लोग भी तो कभी घर की खटिया पर पड़े हुए अपने किसी बीमार आदमी का पाखाना साफ करते हैं या नहीं ? मतलब मजदूरी लेकर दूसरों का पाखाना साफ करना यह एक प्रकार का धंधा है, उसको कौन आदमी धर्म कहेगा ? उसी प्रकार किसी मूर्ख ब्राह्मण ने दूसरे का शार्गिद होकर उसका पाखाना साफ किया तो क्या आप उसको भंगी कहेंगे ? धनगरों द्वारा भेड़ें पालकर उनको चराना यह उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह उसका एक धंधा है। खेती का काम करना कुनबी का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका धंधा है। बाग का काम करना माली का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका एक धंधा है। मेहनताना लेकर लोगों की सेवा करना नौकर का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका धंधा है। मकान का काम करना बढ़ई का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका एक धंधा है। जूता बनाना चमार का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका एक धंधा है। रखवाली करना रामोशी का धर्म नहीं है, बल्कि वह उसका एक धंधा है। दुर्बल, पराजित, सर्वहारा लोगों द्वारा अपने क्रूर, विजयी मालिक

लोगों की सेवा करना यह उनका धर्म नहीं है, बल्कि यह उनकी लाचारी और मजबूरी है। धूर्त चोरों द्वारा सोए हुए लोगों के मकान तोड़ना यह उनका धर्म नहीं है, बल्कि यह उनके हाथ की सफाई है। विजयी आर्यभट्ट ब्राह्मणों द्वारा अतिशूद्रों को पढ़ाई-लिखाई का अधिकार न देना यह उनका धर्म नहीं है, बल्कि यह उनका बदला लेने का षड्यंत्र है। पराजित अज्ञानी लोगों को छलकर खाना यह उनका धर्म नहीं है बल्कि यह उनकी धूर्तता है। सरकारी काम पर रहनेवाले का अनपढ़ लोगों से रिश्वत लेना यह वैसे कर्मचारी का धर्म नहीं, बल्कि यह उसकी सरकार से दगाबाजी करने की चालाकी है। बिना मेहनत के धर्म के नाम पर अज्ञानी लोगों को लूटकर खाना यह जानकार-समझदार ब्राह्मण का धर्म नहीं है, बल्कि यह उसकी खुल्लमखुल्ला धोखेबाजी है। मूर्ख-अनपढ़ शूद्रों के द्वारा यहाँ के अंग्रेज सरकार के विरोध में विद्रोह करवाकर अज्ञानी शूद्रादि-अतिशूद्रों को विपदा में डालना यह धूर्त पेशवा और फड़के इनका धर्म नहीं है, बल्कि यह उनकी राजद्रोह करने की बदमाशी है। अन्य सभी लोगों को नीच मानना और केवल अपने-आपको पवित्र मानकर शुद्धि आदि कर्मकांड करना यह ब्राह्मणों का धर्म नहीं है, बल्कि यह उनकी सारी अब्राह्मण दुनिया को अपवित्र मानने की जातिगत चालाकी है। वेश्या के साथ एक शय्या पर सोने के बाद घर में आने पर शुद्धिकर्म करना यह सज्जन मानव का धर्म नहीं है, बल्कि यह उसकी अपवित्रता है। अपने निर्वाह के लिए मरे हुए जानवरों का मांस खाना यह मातंग महारों का धर्म नहीं है, बल्कि यह उनकी लाचारी और मजबूरी है। यज्ञ के और श्राद्ध के बहाने तंदुरुस्त गौ-आदि जानवरों की हत्या करके खाना यह ब्राह्मणों का धर्म नहीं है, बल्कि यह उनकी मांस खाने की प्रवृत्ति है।

यशवंत: रैयत से लगान लेना यह भी क्या राजा का धर्म नहीं है ?

जोतीराव : चोर, विद्रोही और कई प्रकार के धर्मठग, धूर्त, लुच्चे लोगों के द्वारा खड़ी की गई परेशानी से प्रजा का और अपना बचाव करने के लिए रैयत से कर लेना, यह राजा का कर्तव्य कर्म है, इसको धर्म क्यों कहना चाहिए ?

यशवंत: राजा द्वारा वसूल किए गए कर, चंदे की रकम रैयत के सुख के लिए खर्च न करके सिर्फ निक़म्मे, धूर्त ब्राह्मणों के पालन-पोषण पर खर्च करने और अपने खुद के ऐशो-आराम के लिए उसका उपयोग करने से उसका परिणाम क्या होगा ?

जोतीराव : इस तरह करने से कई राजा-रजवाड़ों का बुरा हाल हो गया। एक समय

ऐसा आया कि उनको मिट्टी फाँकनी पड़ी—और आगे भी उनके हाल इसी तरह होंगे, उनका निश्चित रूप से विनाश होगा।

यशवंत: लड़के-बच्चों का अपने माँ-बाप की आज्ञा का पालन करना क्या यह भी उनका धर्म नहीं है?

जोतीराव : जब हम पैदा हुए उस समय हम बहुत छोटे थे, बच्चे थे, बहुत दुर्बल थे, अबोध नन्हे-मुन्ने थे—उस समय हमारे जन्मदाता माँ-बाप ने हमें पाला-पोसा, हमें अच्छी शिक्षा दिलवाई—ये उनके हम पर अनंत, अमर्यादित उपकार हैं। उसी प्रकार जब हमारे माँ-बाप बुढ़ापे की वजह से दुर्बल-अपाहिज बन जाते हैं, तब हम सभी बाल-बच्चों को बड़ी कृतज्ञता के साथ, बड़ी लगन से उनकी सेवा, पालन-पोषण करना चाहिए। इस तरह उनके उपकारों से मुक्त हुए बगैर बच्चे और माँ-बाप में देन-लेन का व्यवहार समाप्त नहीं होता।

यशवंत: फिर दुर्बल और निराधार माँ-बाप का पालन-पोषण करके उनके उपकारों से मुक्त हुए बगैर औरत का त्याग करके बाल ब्रह्मचारी और ताबूत में रखे शव का-सा स्वाँग रचकर बदन को भभूत लगाकर फोकट के खानेवाले वैरागी कैसे बनते हैं? इसके बारे में आपका क्या कहना है?

जोतीराव : इसके बारे में औरत का त्याग करनेवाले बाल ब्रह्मचारी को और वैरागी को नौ माह तक अपने पेट में रखकर जो उसका पालन-पोषण करते हैं उसके उन माँ-बाप से पूछो तो आपको इसका सही जवाब मिल जाएगा। लेकिन जब कभी इस धरती के सभी नर-नारी मुक्ति पाने की इच्छा से बाल ब्रह्मचारी, बाल ब्रह्मचारिणी, वैरागी और वैरागन आदि सीधे साधु-साधुनियों का स्वाँग रचाकर रात और दिन काल्पनिक सनातन शेषशायी का नाम स्मरण करने लगें तो उन सभी लोगों के प्रयत्न दो-चार महीने के अंदर-अंदर भूख-प्यास से बेकार हो जाएँगे या नहीं? क्योंकि वे सभी लोग किसी की मेहनत पर अपना निर्वाह कर लें, इतनी गुंजाइश ही नहीं रहती। सारांश, नौकर के मालिक के पास नौकरी करने को नौकर का धर्म कहा जाता है, वैश्या का किसी नौजवान को अपना आशिक बनाने का काम करना यह आशिक का धर्म कहा जाता है, आर्यभट्ट ब्राह्मणों का शूद्रादि-अतिशूद्रों को नीच मानना इसको आर्य ब्राह्मण धर्म कहते हैं, भिक्षा माँगना ब्राह्मणों का धंधा है लेकिन उसको ब्राह्मणों का धर्म कहा जाता है। इस प्रकार धर्म शब्द के कई प्रकार के अर्थ होते हैं। धूर्त भट्ट ब्राह्मण अपना स्वार्थ हासिल करने के लिए जैसा मौका आता है वैसा उसका अर्थ करके अपना हित साधन कर लेते हैं।

इशारा

कुछ ही दिनों पहले की बात है, मतलब आर्य ब्राह्मण पेशवा के अंतिम वंशज रावबाजी के कार्यकाल का अंत होने तक, किसान लोगों को लगान देने में भूल से थोड़ा भी विलंब होने पर उन्हें धूप में गरदन को घुटनों तक और हाथ के पंजे को पाँव के उँगलियों को छूने तक झुककर रहना पड़ता था और उनकी पीठ पर एक बड़ा पत्थर रखा जाता था। कभी-कभी उस किसान की पीठ पर उसकी औरत को बिठाया जाता था। नीचे से उसको मिरची का धुआँ दिया जाता था। तात्पर्य, उस समय प्रजा को क्लेश देने के काम में जो कुछ सुधार हो गया था, वह अन्य देशों की प्रजा के दुखों से तुलना करके देखा जाए तो, इन्हें ही प्रथम दर्जे का बख्शीश दिया जाएगा। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि ब्राह्मण जाति के लोग प्रजा को किस तरह से चूसा जाए, उन्हें किस तरह से ज्यादा दुख दिया जा सकता है, इसके लिए कौन-सा तरीका अपनाने से उनका अहित होगा, इसके लिए दिन-रात वे अपने धर्मशास्त्रों का एक भाव से, एक निश्चय से जैसे कोई अध्ययन, पठन-पाठन तो नहीं कर रहे थे! उनका प्रजा को दुख देने का मतलब था इन्हें मारना, पीटना, लूटना या त्रस्त करना, यही इसका अर्थ था। प्रजा का अहित करने में ही उनको मजा आता था। वे (ब्राह्मण) लोग प्रजा का अर्थ लकड़ी, कचरा, कूड़ा-कर्कट, खटमल या किसी एक तरह के जानवर ही मानते थे। उनकी दृष्टि में उस प्रजा का उपयोग भी क्या था? उनका काम भी क्या था? प्रजा का काम यही था कि राजा और उनकी जाति के लोगों के लिए, उनकी बीवियों के लिए और उनके बाल-बच्चों के लिए खेत से अनाज पैदा करना, कपड़ा बुनना, उनके लिए लहलहाती धूप में खपना, और उन्हें ऐशोआराम के लिए जिन-जिन चीज़ें की दरकार हो, वह सब पैदा करना। इसके अलावा उन्हें दूसरा कोई मानवी अधिकार प्राप्त नहीं था। खैर, चलिए।

इस प्रकार सत्तांध होकर प्रजा से क्रूरतापूर्ण, अमानवी बर्ताव करनेवाले, प्रजा को पशु से भी बदतर समझनेवाले राजाओं की और उनकी जाति-बिरादरी के लोगों की सर्वंकष सत्ता इस देश की प्रजा पर चल रही थी। यहाँ का ब्राह्मण-धर्म, उनके धर्मग्रंथ, उनके धर्मशास्त्र, उनका ईश्वर, उनकी आत्मा-परमात्मा, उनके देवी-देवता, उनका पुरोहित वर्ग—सभी कुछ प्रजा को शत्रु मानते थे और वे उनसे उसी तरह से व्यवहार भी करते थे। इस देश की प्रजा को सदियों से कोई मानवी अधिकार प्राप्त नहीं था। उनके सभी मानवी अधिकार छीन लिए गए थे। उन्हें इस देश के नागरिक होने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।.........

ब्राह्मण राजा सैकड़ों साल तक प्रजा के ऊपर कर (लगान) का कमरतोड़ बोझ लादकर करोड़ों-करोड़ रुपया खा गए लेकिन उसका एक छदाम तो कम-से-कम ईश्वर की सौगंध खाकर प्रजा के कल्याण के लिए खर्च करना था। अफसोस है, प्रजा की ओर से वसूल किए पैसे का उन्होंने जिस तरह गलत उपयोग किया, वे सभी बातें बयान करने में हमें स्वयं लज्जा आती है। उन्होंने अपनी जाति के ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों के लिए जगह-जगह पर देवी-देवताओं के नाम संस्थानों-मठों-मंदिरों की स्थापना करके वहाँ उन्होंने उनके लिए अन्न-छत्र भी शुरू कर दिए। प्रजा की ओर से पैसा वसूल होने के तुरंत बाद ही ब्राह्मण-भोजन के निमित्त फलाने संस्थान के लिए दो लाख रुपये, फलाने संस्थान के लिए पचास हजार रुपये, इस तरह के प्रस्ताव करके पैसा बाँट दिया जाता था। हर दिन पर्वती[1] जैसे संस्थान (मंदिर) पर तो सिर्फ ब्राह्मणों को घी-रोटी का भोजन और ऊपर से दस-दस रुपया दक्षिणा दिया गया। आज क्या है? ब्राह्मणों को लड्डू का भोजन और ऊपर से बीस-बीस रुपया दक्षिणा दिया गया। आज ब्राह्मणों को केशर-भात का भोजन और ऊपर से हर एक को मुट्ठी भर के रुपया दक्षिणा दिया गया। इसके अलावा कई ब्राह्मणों को शाल-जोड़ा, कइयों को साफा, कइयों को धोती-जोड़ा, कइयों को इच्छानुरूप वर्षासन देने की नियुक्तियाँ होती थीं। इस तरह हर दिन ब्राह्मणों को इच्छानुरूप, पर्याप्त मात्रा में भोजन दिया जाता था और ऊपर से बेहिसाब दक्षिणा और बख्शीश दिया जाता था, इससे गरीब प्रजा को बहुत ही कष्ट सहने पड़ते थे। इस तरह ब्राह्मण-शासक प्रजा से लगान (कर) के रूप में वसूल किए गए सारे रुपये-पैसों की, धन-दौलत की बर्बादी कर देते थे।

सचमुच उस समय प्रजा की क्या यह स्थिति थी कि वह अपने पेट का, अपने बाल-बच्चों का गुजारा करके सरकार को कर दे सके? इस संबंध में कुछ कहने की गरज ही नहीं। उनकी जो भी स्थिति थी, उसको शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। बेचारे गरीब प्रजा को रात और दिन लहलहाती धूप में, बरसती बारिश में और चलनेवाली सर्दी के दिनों में समान रूप से खेत-खलिहान में ही मेहनत करते हुए, खून-पसीना बहाते हुए रहना पड़ता था। उनको अपना और अपने बीवी-बच्चों का तन-बदन ढकने के लिए जोड़ा-मोटा कपड़ा तथा पेट की आग बुझाने के लिए रूखा-सूखा भोजन जुटाने में भी बड़ी हाय-तौबा मचती थी। उनके सिर पर क्या रहता था? फटी-पुरानी बीस या पच्चीस हाथ लंबी चिंदी जिसको फेंटा कहने में बड़ी लज्जा आती हैं। प्रजा का नंगा बदन पूरा धूप से काला और पूरी बरसात गुजर

---

1. पूना का एक प्रसिद्ध हिंदू-मंदिर।

जाती है, कभी बदन पर फटा-पुराना कोई चुभनेवाला धुस्सा होता है, पाँव में पाँच-सात जगहों पर सिलाई हुई, ऊपर से रस्सी के टुकड़े से बाँधी फटी हुई जूतियाँ, वह भी जब कभी धूप हो, उसी समय पहनी जाती थीं। और धूपकाला बीत जाने के बाद दूसरे साल के धूपकाले तक के लिए उसी तरह हिफाजत के साथ रखा जाता था। शेष पूरे साल-भर के लिए जूता क्या चीज होती है, यह पाँव को भी पता नहीं होता था। आगे और क्या कहना चाहिए। उन्हें पहनने के लिए हाथ-सवा हाथ लंबा चिथड़ा भी मिलना दरकिनार, बाजार से छदाम पैसे की कोई वस्तु खरीदकर लाना हो तो वह लाने के लिए उसी के एक छोर पर या साफे में बाँधना पड़ता था, लेकिन उस चीज को लाने के लिए दूसरा कपड़ा या थैला मिलना दरकिनार। यही उसके स्वयं के तन-बदन पर पहने हुए कपड़ों की असलियत होती थी।

अब आप यदि उनकी औरतों के कपड़ों के बारे में पूछेंगे, तो उनके बारे में कुछ कहने-बताने में बड़ा संकोच हो रहा है। वह बेचारी उसके साथ क्या समझकर अपना दिन गुजार रही है, वही जानती है; किंतु उसकी ओर से उसे तिलभर भी सुख नहीं मिलता। उसको कोई मोटा-जाड़ा-धुस्सा करीबन दो या ढाई रुपये कीमत पर मिल जाए, तो उन्हें एक-दो साल तक चलाना पड़ता था। उनको स्नान करने के बाद बदलने के लिए दूसरी साड़ी या कोई दूसरा चिथड़ा भी नहीं मिलता था। लेकिन उनके पीछे इतना काम लगा रहता था कि वही साड़ी या धुस्सा, उसी को चार-चार या पाँच-पाँच दिन तक बिना धोए ही पहनना पड़ता था। उन्हें जब कभी काम से फुरसत मिली, तो नदी, नाला या तालाब पर जाकर पहने हुए धुस्से या साड़ी का आधा हिस्सा बड़ी लज्जा से दुखी होकर शरमाते हुए तन-बदन से उतार लेना पड़ता था और वह उसे पहले धो डालती थी। उसी प्रकार जब वह साड़ी या धुस्सा जीर्ण होकर फटने लगता है तब उस फटे हुए एक हिस्से को पहले सिलाती है। बाद में उसे पहनने के बाद दूसरे हिस्से को सिलाती है। आगे वही साड़ी या धुस्सा फटते-फटते उसका सात या आठ हाथ लंबा चिथड़ा बच जाता है। लेकिन उस चिथड़े पर इतने चिथड़े लगे हुए रहते हैं कि मूल में यह किस रंग की साड़ी या धुस्सा था, यह बताना भी मुश्किल हो जाता था। इस तरह अपने तन पर अपर्याप्त धुस्से का चिथड़ा या साड़ी का चिथड़ा बड़े ढंग से पहनकर, सिर पर गोबर का टोकरा रखकर भरे बाजार में जाना पड़ता था। अफसोस! यह कितने दुख की बात है, सच बताइए!

यह हकीकत बयान करते समय सचमुच में शूद्र लोगों के दिल के टुकड़े-टुकड़े होते होंगे, इसमें कोई शक नहीं। उन्हें ऐसा लगता होगा कि हम लोगों ने फिजूल जन्म ग्रहण किया है। बेहतर होता यदि हम पैदा होते ही मर गए होते।

लेकिन अपनी आँखों से अपनी औरतों का यह बेहाल देखना बेकार है। एक बार मनुष्य अपने लिए कोई भी मुसीबत हो, तन को किसी भी प्रकार की पीड़ा क्यों न हो, फिर भी वह सब सह लेगा, लेकिन अपने प्रिय जनों का यह हाल होता हो तो वह कभी भी सह नहीं सकता। वहाँ तो देखते ही देखते केवल मरा हुआ हो जाता है। यदि उन्हें ऐसा लग भी रहा हो तब भी वे गरीब लोग कर भी क्या सकते हैं ? पूरी तरह से निराशा छाई हुई थी। विरूपायी थे। उन्हें खाने-पीने के लिए भी कुछ अच्छा मिल जाता, तो गनीमत थी। इसके बारे में ख्वाब में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी। हर दिन ज्वार की या बाजरे की या जोंधरे की रोटी केवल नमक के साथ, कभी हरी-लाल मिरची के साथ या प्याज के साथ खाना पड़ता था। कभी सब्जी के लिए यदि तेल मिल जाए तो नमक मिलना मुश्किल था; नमक मिला तो मिरची मिलना मुश्किल था। कभी ज्वार की या जोंधरे की कनकी को भूनकर उसका सत्तू बना करके खाते-पीते थे। कभी-कभी केवल पत्तीवाली सब्जी-भाजी को ही उबालकर खाते थे। कभी-कभी जंगल के उर्दुबर (गूलर) खाकर उसी के सहारे अपना गुजर-बसर करते थे। कभी-कभी तो सिर्फ पानी पीकर और पेट को रस्सी से बाँधकर खेती-खलिहानों में खून और पसीना बहाते रहते थे।

इस तरह दरिद्रता से पीड़ित प्रजा के रुपयों-पैसों को (बड़ी मेहनत से कमाया हुआ पैसा कर द्वारा छीन करके) ऊपर कहे मुताबिक, अपनी जाति-बिरादरी के ब्राह्मणों को भोजन देने में ही फूँक दिया जाता था, यह बड़ी निंदनीय और कुधर्म-नीति की बात थी। उन पैसों का करीब-करीब कुछ अंश भी यदि इस प्रकार के तालाब, सागर, बाँध, कॅनाल बनाने में या उसी प्रकार के दूसरे अच्छे कामों में खर्च किया होता और शेष रुपया-पैसा आर्य ब्राह्मणों की मस्ती, ऐयाशी और निठल्लेपन को बढ़ावा देने में खर्च किया होता, तब भी उससे प्रजा का बहुत बड़ा कल्याण हुआ होता। प्रजा अन्न-वस्त्रों के लिए न घर की न घाट की बनी होती। ब्राह्मण और ब्राह्मण्यग्रस्त राजाओं के नाम को भी कलंक न लगा होता। उन्होंने किसानों के खेतों में इस तरह से, मतलब कॅनाल आदि खुदवाकर पानी पहुँचाने की व्यवस्था की होती, तो उनके खेतों में हरियाली ही हरियाली छाई हुई रहती, समय-समय पर अनाज की एक फसल के बाद दूसरी फसल आती और इस तरह से किसानों में बड़ी आसानी से पहले से दुगुना-चौगुना कर (महसूल) देने की सामर्थ्य आई होती। उससे पंडा-पुरोहित, सत्ताधारी और ब्राह्मण लोग भी मनचाहे लड्डू का भोजन खाकर उठने के बाद उनको भली मोटी दक्षिणा देने की सामर्थ्य भी आई होती। ब्राह्मण-पंडे ओकने तक भोजन कर सकते थे। जो ब्राह्मण-पंडा जितने लड्डू

खाएगा, उस हर किसी को हर लड्डू के लिए जहाँ दस-दस रुपये इनाम के रूप में मिलते थे, वहाँ बीस-बीस, तीस-तीस रुपया भी देने की सामर्थ्य प्रजा में आई होती, किंतु स्वार्थी, धूर्त, स्वहित बुद्धि की वजह से या अपने स्वजातीय स्वार्थी भावना की वजह से यह विचार सूझा नहीं।

किसान का कोड़ा

प्रास्ताविक

विद्या के न होने से बुद्धि नहीं; बुद्धि के न होने से नैतिकता न रही; नैतिकता के न होने से गतिमानता न आई; गतिमानता के न होने से धन-दौलत न मिली, धन-दौलत न होने से शूद्रों का पतन हुआ। इतना अनर्थ एक अविद्या से हुआ।........

आज के किसानों में तीन प्रकार के किसान दिखाई देते हैं—केवल किसान या कुनबी, माली और धनगर! अब यह तीन प्रकार (भेद) होने के कारणों को खोजने से पता चलता है कि प्रारंभ में जो लोग केवल कृषि पर अपना जीविका चलाते रहे थे, वे कुलवाड़ी या कुनबी हुए। जो लोग अपना कृषि काम सम्भाल करके बागबानी करने लगे, वे माली हुए और जो लोग दोनों प्रकार के काम करके भेड़-बकरियों के झुंड पालने लगे, वे धनगर (गड़रिया, गड़ेरिया) हो गए। इस तरह अलग-अलग काम के आधार पर यह प्रकार (भेद) हुए होंगे। किंतु अब यह तीन अलग-अलग जाति मानी जाती है। इनमें आज आपस में बेटी[1]-व्यवहार नहीं होता। लेकिन पहले रोटी-व्यवहार आदि होता था। इससे यह सिद्ध होता है कि ये (कुनबी, माली और धनगर) पहले एक ही शूद्र किसान जाति के होने चाहिए। अब आगे इन तीनों जातियों के लोग अपना मूल किसानी धंधा मजबूरन छोड़कर पेट के खातिर तरह-तरह के व्यवसाय करने लगे। जिनके पास कुछ समय है, वे अपनी खेती की देखभाल करते हैं और अधिकांश अक्षरहीन, अनपढ़, भोले-भाले, भूखे-कंगाल, नंग-धड़ंग हैं; लेकिन वे आज भी किसान ही हैं। जिनको अब किसी प्रकार का सहारा नहीं, वे किसान क्षेत्र (देश) छोड़कर जहाँ जीविकार्जन हो सके, वहाँ-वहाँ

---

1. शूद्रों के कुलस्वामी जेजुरी के खंडेराव ने शूद्र (कुनबी) कुल की महालसाई और धनगर कुल की बानाबाई—इन दो जातियों की दो औरतों से ब्याह किया था, इसलिए पहले कुनबी और धनगर, इन दो जातियों में आपस में बेटी-व्यवहार होता था।

जा रहे हैं। उनमें से कुछ लोग घास बेच रहे हैं। कोई लकड़ियाँ बेच रहा है। कोई कपड़ा बेच रहा है। इसी तरह कुछ लोग ठेकेदारी और कुछ लोग क्लर्क आदि की नौकरियाँ करके अंत में पेंशन लेकर मौज कर रहे हैं। इस तरह धन कमाकर इस्टेट बना करके रख रहे हैं। लेकिन उनके पश्चात् उनके ऐयाशी बच्चे, जिनको ज्ञान-ध्यान से कोई मोहब्बत नहीं, वे कुछ ही दिनों बाद बाबू के भाई दरवेशी होकर बाप के नाम से चिल्लाते हुए पेट के ख़ातिर दर-दर भटकते हैं। कइयों के पूर्वजों ने सिपाहगीरी और चतुराई के बल पर जागिरदारी, इनाम आदि कमाए और कुछ लोग शिंदे-होलकरों की तरह प्रतिराजा हो गए थे। लेकिन आज उनके वंशज अज्ञानी अनपढ़ होने की वजह से अपनी जागिरदारी; इनाम गिरवी रखकर या बेचकर आज कर्जदार हो रहे हैं। कुछ लोग तो अनाज के लिए भी मोहताज हो गए हैं। अधिकांश इनामदारों को, जागिरदारों को यह भी मालूम नहीं है कि उनके पूर्वजों ने किस-किस तरह का पराक्रम किया है, किस-किस प्रकार की मुसीबतों को सहा है। ये बातें उनके ध्यान में भी नहीं आतीं। वे लोग बाप की कमाई पर मौज-मस्ती करके, अनपढ़ होने की वजह से दुष्ट और लुच्चे-लफंगों की संगत में फँसकर रात-दित ऐशोआराम और नशे में बेहोश रहते हैं। इनमें से जिनकी जागिरदारी गिरवी न पड़ी हो, या जो कर्ज में न डूबा हो, ऐसा शायद ही कोई होगा। आज जो संस्थानिक है, जिसको कर्ज के बोझ ने छुआ नहीं है, फिर भी उसके इर्द-गिर्द के लोग और ब्राह्मण दीवानजी इतने मतलबी, धूर्त, व्यवहारी होते हैं कि वे हमारे राजा-रजवाड़ों को ज्ञान-ध्यान तथा सद्‌गुणों की अभिरुचि ही लगने नहीं देते। इस वजह से अपने सही वैभव के स्वरूप को पहचानते नहीं; बल्कि अपने पूर्वजों ने केवल हमारे मजा-मौज के लिए ही राज्य प्राप्त किया है, ऐसा मानकर धर्म की वजह से अंधे हुए, राजशासन स्वतंत्र रूप से चलाने की सामर्थ्य न होने की वजह से, केवल किस्मत पर बल देकर ब्राह्मण दीवान जी पर सौंप देते हैं और उन्हीं की सलाह को अंतिम मानकर चलते हैं। उन्हीं की सलाह पर दिन में गौदान और रात में प्रजोत्पादन करते हुए स्वस्थ रहते हैं। ऐसे राजा-रजवाड़ाओं के हाथ से अपने शूद्र जाति बंधुओं का कल्याण संभव हो सकता है, लेकिन उनके मन में जो विचार कभी भी आया नहीं और जब तक 'ब्राह्मणों मम दैवत'—यह पागलपन उनके दिलो-दिमाग से निकलता नहीं, तब तक कितनी भी माथापच्ची की जाए, वह निरर्थक ही होगी। फिर भी किसी ने उस तरह करने का प्रयास किया तो बचपन से मन पर जो संस्कार मूल पकड़ चुके हैं, उस मतलबी धर्म के विरुद्ध चार बातें सुनकर उस पर विचार करने की बात उनको कैसे जँचेगी ? उनके करीब के दीवान पहले ही ऐसे नि:स्वार्थ और जनहितकारी को

चलने नहीं देंगे। ऐसी स्थिति में हिम्मत करके किसी ने मुझे मौका दिया तो मैं बड़ी खुशी के साथ अपनी क्षमता के अनुसार अपने विचार उनके सामने रखूँगा।

खैर, दुनिया के तमाम देशों का इतिहास एक-दूसरे से तुलना करके देखने पर, यह निश्चित रूप से दिखाई देगा कि हिंदुस्तान के अज्ञानी, अनपढ़, भोले-भाले शूद्र किसानों की स्थिति अन्य देशों के किसानों से बदतर है। पशु से भी बुरी स्थिति में पहुँची है।

गुलामगीरी

प्रस्तावना

सैकड़ों साल से आज तक शूद्रादि-अतिशूद्र (अछूत) समाज, जब से इस देश में ब्राह्मणों की सत्ता कायम हुई तब से लगातार जुल्म और शोषण के शिकार हैं। ये लोग हर तरह की यातनाओं और कठिनाइयों में अपने दिन गुजार रहे हैं। इसलिए इन लोगों को इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और गंभीरता से सोचना चाहिए। ये लोग अपने-आपको ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों की जुल्म-ज्यादतियों से कैसे मुक्त कर सकते हैं, यही आज हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल है। यही इस ग्रंथ का उद्देश्य है। यह कहा जाता है कि इस देश में ब्राह्मण-पुरोहितों की सत्ता कायम हुए लगभग तीन हजार साल से भी ज्यादा समय बीत गया होगा। वे लोग परदेश से यहाँ आए। उन्होंने इस देश के मूल निवासियों पर बर्बर हमले करके इन लोगों को अपने घर-बार से, जमीन-जायदाद से वंचित करके अपना गुलाम (दास) बना लिया। उन्होंने इनके साथ बड़ी अमानवीयता का रवैया अपनाया था। सैकड़ों साल बीत जाने के बाद भी इन लोगों में बीती घटनाओं की विस्मृतिय़ाँ ताजी होती देखकर कि ब्राह्मणों ने यहाँ के मूल निवासियों को घर-बार, जमीन-जायदाद से बेदखल कर इन्हें अपना गुलाम बनाया है, इस बात के प्रमाणों को ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों ने तहस-नहस कर दिया। दफनाकर नष्ट कर दिया।

उन ब्राह्मणों ने अपना प्रभाव, अपना वर्चस्व इन लोगों के दिलो-दिमाग पर कायम रखने के लिए, ताकि उनकी स्वार्थपूर्ति होती रहे, कई तरह के हथकंडे अपनाए और वे सभी इसमें कामयाब भी होते रहे। चूँकि उस समय ये लोग सत्ता की दृष्टि से पहले ही पराधीन हुए थे और बाद में ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों ने उन्हें ज्ञानहीन-बुद्धिहीन बना दिया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों के दाँव-पेंच, उनकी जालसाजी इनमें से किसी के भी ध्यान में नहीं आ

सकी। ब्राह्मण-पुरोहितों ने इन पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए, इन्हें हमेशा-हमेशा के लिए अपना गुलाम बनाकर रखने के लिए, केवल अपने निजी हितों को ही मद्देनजर रखकर, एक से अधिक बनावटी ग्रंथों की रचना करके कामयाबी हासिल की। उन नकली ग्रंथों में उन्होंने यह दिखाने की पूरी कोशिश की कि, उन्हें जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं, वे सब उन्हें ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं। इस तरह का झूठा प्रचार उस समय के अनपढ़ लोगों में किया गया और उस समय के शूद्रादि-अतिशूद्रों में मानसिक गुलामी के बीज बोए गए। उन ग्रंथों में यह भी लिखा गया कि शूद्रों को (ब्रह्म द्वारा) पैदा करने का उद्देश्य बस इतना ही था कि शूद्रों को हमेशा-हमेशा के लिए ब्राह्मण-पुरोहितों की सेवा करने में ही लगे रहना चाहिए और ब्राह्मण-पुरोहितों की मर्जी के खिलाफ कुछ भी नहीं करना चाहिए। मतलब, तभी इन्हें ईश्वर प्राप्त होंगे और इनका जीवन सार्थक होगा।.....

ब्राह्मण-पंडा-पुरोहित लोग अपना पेट पालने के लिए, अपने पाखंडी ग्रंथों द्वारा, जगह-जगह, बार-बार, अज्ञानी शूद्रों को उपदेश देते रहे, जिसकी वजह से उनके दिलो-दिमाग में ब्राह्मणों के प्रति पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती रही। इन लोगों को उन्होंने (ब्राह्मणों ने) इनके मन में ईश्वर के प्रति जो भावना है, वही भावना अपने को (ब्राह्मणों को) समर्पित करने के लिए मजबूर किया। यह कोई साधारण या मामूली अन्याय नहीं है। इसके लिए उन्हें ईश्वर के पास जवाब देना होगा। ब्राह्मणों के उपदेशों का प्रभाव अधिकांश अज्ञानी शूद्र लोगों के दिलो-दिमाग पर इस तरह से जड़ जमाए हुए है कि अमेरिका के (काले) गुलामों की तरह जिन दुष्ट लोगों ने हमें गुलाम बनाकर रखा है, उनसे लड़कर मुक्त (आज़ाद) होने की बजाय जो हमें आज़ादी दे रहे हैं, उन लोगों के विरुद्ध फ़िजूल कमर कसकर लड़ने के लिए तैयार हुए हैं।

हर मनुष्य को आजाद होना चाहिए, यही उसकी बुनियादी जरूरत है। जब व्यक्ति आजाद होता है तब उसे अपने मन के भावों और विचारों को स्पष्ट रूप से दूसरों के सामने प्रकट करने का मौका मिलता है। लेकिन जब उसे आजादी नहीं होती तब वह वही महत्त्वपूर्ण विचार, जनहित में होने के बावजूद दूसरों के सामने प्रकट नहीं कर पाता और समय गुजर जाने के बाद वे सभी विचार लुप्त हो जाते हैं। आजाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवी अधिकार प्राप्त कर लेता है और असीम आनंद का अनुभव करता है। सभी मनुष्यों को मनुष्य होने के जो सामान्य अधिकार, इस सृष्टि के नियंत्रक और सर्वसाक्षी परमेश्वर द्वारा दिए गए हैं, उन तमाम मानवी अधिकारों को ब्राह्मण-पंडा-पुरोहित वर्ग ने दबोचकर रखा है। अब ऐसे लोगों से

अपने मानवी अधिकार छीनकर लेने में कोई कसर बाकी नहीं रखनी चाहिए।....

इस बात पर कोई शायद इस तरह का संदेह उठा सकता है कि आज ब्राह्मणों की तुलना में शूद्रादि-अतिशूद्रों की संख्या करीबन दस गुना ज्यादा है। फिर भी ब्राह्मणों ने शूद्रादि-अतिशूद्रों को कैसे मटियामेट कर दिया? कैसे गुलाम बना लिया? इसका जवाब यह है कि एक बुद्धिमान, चतुर आदमी इस अज्ञानी लोगों के दिलो-दिमाग को अपने पास गिरवी रख सकता है। उन पर अपना स्वामित्व लाद सकता है। और दूसरी बात यह है कि दस अनपढ़ लोग यदि एक ही मत के होते तो वे उस बुद्धिमान, चतुर आदमी की दाल न गलने देते, एक न चलने देते; किंतु वे दस लोग दस अलग-अलग मतों के होने की वजह से ब्राह्मणों-पुरोहितों जैसे धूर्त-पाखंडी लोगों को उन दस भिन्न-भिन्न मतवादी लोगों को अपने जाल में फँसाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती। शूद्रादि-अतिशूद्रों की विचार-प्रणाली, मत-मान्यताएँ एक-दूसरे से मेल-मिलाप न करें, इसके लिए प्राचीन काल में ब्राह्मण-पुरोहितों ने एक बहुत बड़ी धूर्ततापूर्ण और बदमाशीभरी विचारधारा खोज निकाली। उन शूद्रादि-अतिशूद्रों के समाज की संख्या जैसे-जैसे बढ़ने लगी, वैसे-वैसे ब्राह्मणों में डर की भावना उत्पन्न होने लगी। इसीलिए उन्होंने शूद्रादि-अतिशूद्रों के आपस में घृणा और नफरत की भावना बढ़ती रहे, इसकी योजना तैयार की। उन्होंने समाज में प्रेम के बजाय जहर के बीज बोए। इसमें उनकी चाल यह थी कि यदि शूद्रादि-अतिशूद्र (समाज) आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे तब कहीं यहाँ अपने टिके रहने की बुनियाद मजबूत रहेगी और हमेशा-हमेशा के लिए उन्हें अपना गुलाम बनाकर बगैर मेहनत के उनके पसीने से प्राप्त कमाई पर बिना किसी रोक-टोक के गुलछर्रे उड़ाने का मौका मिलेगा। अपनी इस चाल, विचारधारा को कामयाबी देने के लिए जातिभेद की फौलादी जहरीली दीवारें खड़ी करके, उन्होंने इसके समर्थन में अपने जाति-स्वार्थसिद्धि के कई ग्रंथ लिख डाले। उन्होंने इन ग्रंथों के माध्यम से अपनी बातों को अज्ञानी लोगों के दिलो-दिमाग पर पत्थर की लकीर की तरह लिख दिया। उनमें से कुछ लोग जो ब्राह्मणों के साथ बड़ी कड़ाई और दृढ़ता से लड़े, उनका उन्होंने एक वर्ग ही अलग कर दिया। उनसे पूरी तरह बदला चुकाने के लिए उनकी जो बाद की संतान हुई, उसको उन्हें छूना नहीं चाहिए, इस तरह की जहरीली बातें ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों ने उन्हीं लोगों के दिलो-दिमाग में भर दी फिलहाल जिन्हें माली, कुनबी (कुर्मी आदि) कहा जाता है। जब यह हुआ तब इसका परिणाम यह हुआ कि उनका आपसी मेल-मिलाप बंद हो गया और वे लोग अनाज के एक-एक दाने के लिए मोहताज हो गए। इसीलिए इन लोगों को जीने के लिए मरे हुए जानवरों का

मांस मजबूर होकर खाना पड़ा। उनके इस आचार-व्यवहार को देखकर आज के शूद्र जो बहुत ही अहंकार से माली, कुनबी, सुनार, दरजी, लुहार, बढ़ई, (तेली, कुर्मी) आदि बड़ी-बड़ी संज्ञाएँ अपने नाम के साथ लगाते हैं, वे लोग केवल इस प्रकार का व्यवसाय करते हैं। कहने का मतलब यही है कि वे लोग एक ही घराने के होते हुए भी आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और एक-दूसरे को नीच समझते हैं। इन सब लोगों के पूर्वज स्वदेश के लिए ब्राह्मणों से बड़ी दृढ़ता से, बड़ी निर्भरता से लड़ते रहे, इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों ने इन सबको समाज के निचले स्तर पर लाकर रख दिया और दर-दर के भिखारी बना दिया। लेकिन अफसोस यह है कि इसका रहस्य किसी के ध्यान में नहीं आ रहा है। इसीलिए ये लोग ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों के बहकावे में आकर आपस में नफरत करना सीख गए। अफसोस! अफसोस!! ये लोग भगवान की निगाह में कितने बड़े अपराधी हैं! इन सबका आपस में इतना बड़ा नजदीकी संबंध होने पर भी किसी त्यौहार पर ये उनके दरवाजे पर पका-पकाया भोजन माँगने के लिए आते हैं तो वे लोग इनको नफरत की निगाह से ही नहीं देखते हैं, कभी-कभी तो डंडा लेकर इन्हें मारने के लिए भी दौड़ते हैं। खैर, इस तरह जिन-जिन लोगों ने ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों से जिस-जिस तरह से संघर्ष किया, उन्होंने उसके अनुसार उनको जातियों में बाँटकर एक तरह से सजा सुना दी या जातियों का दिखावटी आधार देकर सभी को पूरी तरह से गुलाम बना लिया। ब्राह्मण-पंडा-पुरोहित सबमें सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिकार संपन्न हो गए, है न मजे की बात! जब से ब्राह्मणों ने शूद्रादि-अतिशूद्रों में जातिभेद की भावना को पैदा किया, बढ़ावा दिया, तब से उन सभी के दिलो-दिमाग आपस में उलझ गए और नफरत से अलग-अलग हो गए। ब्राह्मण-पुरोहित अपने षड्यंत्र में कामयाब हुए। उनको अपना मनचाहे व्यवहार करने की पूरी स्वतंत्रता मिल गई। इस बारे में एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'दोनों का झगड़ा और तीसरे का लाभ।' मतलब यह कि ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों ने शूद्रादि-अतिशूद्रों के आपस में नफरत के बीज जहर की तरह बो दिए और खुद उन सभी की मेहनत पर ऐशोआराम कर रहे हैं।

भीमराव अम्बेडकर

डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक स्वतंत्र विचारक, अद्‌भुत विद्वान और भारत की महान विभूति थे। सामाजिक नवजागरण के अग्रदूत डा. अम्बेडकर का संपूर्ण जीवन सदियों से शोषित-दलित मानवता के सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक उत्थान के लिए समर्पित था। उन्होंने समाज में विद्यमान रूढ़िगत मान्यताओं और विषमताओं को समूल नष्ट करने और सामाजिक न्याय और दलितों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए जीवनभर संघर्ष किया।

'जाति-प्रथा उन्मूलन' बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर द्वारा जात-पांत तोड़क मंडल, लाहौर के 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किया गया भाषण है, परन्तु यह पढ़ा नहीं जा सका था क्योंकि स्वागत समिति ने सम्मेलन को इस आधार पर रद्द कर दिया था कि भाषण में व्यक्त विचार सम्मेलन के लिए असहनीय होंगे। इस विद्वतापूर्ण, शोध-परक व विचारोत्तेजक भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने जाति प्रथा की उत्पत्ति, उसका धार्मिक सामाजिक आधार, जाति प्रथा में निहित सामाजिक उत्पीड़न व भेदभाव तथा जातिप्रथा उन्मूलन के पहलुओं पर प्रकाश डाला है। यह भाषण भारतीय चिंतन का कालजयी दस्तावेज है और हिंदू समाज की दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का घोषणा पत्र है। यहां इसके कुछ अंशों को दिया जा रहा है, लेख में दिए गये शीर्षक संपादक ने अपनी तरफ से दिए हैं।

जाति-प्रथा उन्मूलन

मित्रो,

मुझे जातपांत तोड़क मंडल के सदस्यों की स्थिति पर निश्चय ही खेद है, जिन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित करने की महती कृपा की है। मुझे यकीन है कि अध्यक्ष के रूप में मेरा चुनाव करने पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाएंगे। मंडल को इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने लाहौर में हो रहे समारोह की अध्यक्षता करने के लिए बंबई से किसी व्यक्ति को क्यों बुलाया है। मुझे विश्वास है कि मंडल को इस समारोह की अध्यक्षता करने के लिए मुझसे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति आसानी से मिल सकता था। मैंने हिन्दुओं की आलोचना की है। मैंने महात्मा के प्रभुत्व पर संदेह प्रकट किया है, जिन्हें वे

श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे मुझसे घृणा करते हैं। उनके लिए मैं बाग में एक सांप के समान हूं। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक मनोवृत्ति के हिन्दू इस मंडल से इस बात का स्पष्टीकरण मागेंगे कि इस सम्मानजनक पद के लिए मुझे क्यों बुलाया गया है। यह एक बड़े साहस का काम है। अगर कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझते हैं तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इस पद पर मेरे चुनाव से निश्चय ही धार्मिक प्रवृत्ति के सामान्य हिन्दुओं को प्रसन्नता नहीं होगी। मंडल से इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने अध्यक्ष के चुनने में शास्त्रीय निषेधादेश की अवज्ञा क्यों की। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ही तीनों वर्गों का गुरु नियुक्त किया जाता है। 'वर्णानाम ब्राह्मणों गुरु', यही शास्त्रों का निर्देश है। इसलिए मंडल जानता है कि एक हिन्दू को किससे शिक्षा लेनी चाहिए और किससे नहीं। शास्त्र किसी हिन्दू को गुरु रूप में किसी भी ऐसे व्यक्ति को मात्र इसलिए कि वह ज्ञानी है, स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते। यह बात महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण संत रामदास ने काफी स्पष्ट कर दी थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शिवाजी को हिन्दू राज की स्थापना के लिए प्रेरित किया था। रामदास 'दासबोध' नाम की अपनी मराठी काव्य रचना में जो एक सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक निबंध है, हिन्दुओं को संबोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या हम किसी अन्त्यज को इस कारण से अपना गुरु मान सकते हैं कि वह एक पंडित (अर्थात् विद्वान) है। वह उत्तर देते हैं, नहीं। इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाए, इस मामले को मैं मंडल पर छोड़ देता हूं। मंडल उन कारणों को बहुत अच्छी तरह जानता है कि क्यों उन्हें अध्यक्ष के लिए बंबई की यात्रा करनी पड़ी और ऐसे व्यक्ति को इसके लिए निर्धारित करना पड़ा जो हिन्दुओं का इतना विरोधी हो तथा अपने स्तर को इतना नीचे गिराकर एक अन्त्यज, अर्थात् अछूत को सवर्णों की सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं कहना चाहूंगा कि मैंने इस निमंत्रण को अपनी तथा अपने अनेक अछूत साथियों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार किया है। मैं जानता हूं कि हिन्दू मुझसे उखड़े हुए हैं ? मैं जानता हूं कि मैं उनके लिए स्वीकार्य व्यक्ति नहीं हूं। यह सब कुछ जानते हुए मैंने जानबूझकर अपने आपको उनसे दूर रखा है। मेरी उन्हें कष्ट पहुंचाने की कोई इच्छा नहीं है। मैं अपने ही मंच से अपने ये विचार रख रहा हूं। इससे पहले ही काफी ईर्ष्या और उत्तेजना फैल चुकी है। मेरी जिस बात को हिन्दू सुन रहे हैं, उसे उनके मंच से उनके सामने कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैं अपनी नहीं, बल्कि आपकी इच्छा से यहां आया हूं। आप समाज सुधार के काम में लगे हैं। इस कार्य ने हमेशा ही मुझे प्रेरणा दी है और इसी कारण से मैंने महसूस

किया है कि मुझे इस कार्य में सहायता देने के अवसर को नहीं छोड़ देना चाहिए, विशेषकर ऐसे समय जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता कर सकता हूं। मैं आज जो कुछ कहने जा रहा हूं, क्या उससे आपको उस समस्या को सुलझाने में जिससे आप जूझ रहे हैं, किसी प्रकार से कोई सहायता मिलेगी, इसका निर्णय आप करें। मैं जो कुछ करने की आशा करता हूं, वह यही है कि मैं इस समस्या पर अपने विचार आपके सामने रखूं।

(2)

मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने से बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहां कहीं भी वे जाएं, अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुजरने वाला कोई हिन्दू अपवित्र हो जाए। मैं हाल ही के कुछ और तथ्यों का भी यहां उल्लेख करना चाहता हूं। मध्य भारत की बलाई नाम की एक अछूत जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का जिक्र करना काफी होगा। चार जनवरी 1928 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट आप देखें। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने समाचार दिया है कि कनरिया, बिचोली-हाफसी, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा इंदौर जिले (इंदौर रियासत के) 15 अन्य गांवों की ऊंची जाति के हिन्दुओं ने, अर्थात् कालोटो, राजपूतों और ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया है कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें नियमों का अवश्य पालन करना होगा :

(क) बलाई, सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नहीं बाधेंगे।
(ख) वे रंगीन या फैन्सी किनारी की धोतियां नहीं पहनेंगे।
(ग) वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के संबंधियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।

(घ) सभी हिन्दुओं के विवाहों में बलाई लोग बारात के आगे और विवाह के दौरान बाजा बजाएंगे।

(च) बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैन्सी गाउन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी।

(छ) बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।

(ज) बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिन्दू उन्हें जो कुछ खुश होकर देंगे, लेना होगा।

(त) अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव को छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उन्हें मानने से इन्कार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्रवाई की। बलाइयों को गांवों के कुओं से पानी नहीं भरने दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया।

(3)

धर्म, सामाजिक प्रतिष्ठा और संपत्ति, ये सभी सत्ता और प्राधिकार के स्रोत हैं जो एक आदमी के पास दूसरे की आजादी पर नियंत्रण करने के लिए होते हैं। एक स्थिति में एक बात अभिभावी होती है, तो दूसरी स्थिति में अन्य बात अभिभावी होती है। यही एकमात्र अंतर है। यदि स्वतंत्रता आदर्श है, यदि स्वतंत्रता का अर्थ इस प्रभुत्व का विनाश है जो किसी एक व्यक्ति को किसी दूसरे के ऊपर प्राप्त है, तो स्पष्ट है कि इस बात पर बल नहीं दिया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक इस प्रकार का सुधार है, जिसे हासिल किया जाना चाहिए। यदि शक्ति और प्रभुत्व का स्रोत किसी विशेष समय अथवा किसी विशेष सामाजिक तथा धार्मिक समाज में मौजूद है, तो सामाजिक सुधार और धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

(4)

जातिप्रथा श्रमिकों का विभाजन है

खेद है कि आज भी जातिप्रथा के समर्थक मौजूद हैं। इसके समर्थक अनेक हैं। इसका समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का

एक अनिवार्य लक्षण है, तो यह दलील दी जाती है कि जातिप्रथा में कोई बुराई नहीं है। इस विचार के विरुद्ध पहली बात यह है कि जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन भी है। इसमें संदेह नहीं है कि सभ्य समाज को श्रम का विभाजन करने की आवश्यकता है। किंतु किसी भी सभ्य समाज में श्रम के विभाजन के साथ इस प्रकार के पूर्णतः अलग वर्गों में श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन नहीं होता। जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश में श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता। जातिप्रथा के इस विचार के विरुद्ध एक तीसरा तथ्य भी है। श्रम का यह विभाजन स्वतः नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरूचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता का इस बिंदु तक विकास किया जाए कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों को पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवसायों का यह स्तरण जो जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चय ही घातक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं होता। इसमें तेजी से और अचानक परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों से व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को अपने आपको ढालने की ऐसी स्वतन्त्रता के बिना, उसके लिए अपनी आजीविका कमाना असंभव हो जाएगा। जातिप्रथा हिन्दुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देगी, जहां उनकी जरूरत है, यदि वे आनुवंशिक रूप से उनसे संबंधित नहीं हैं। यदि कोई हिन्दू अपनी जाति के लिए निर्धारित पेशे के अलावा नए पेशे को अपनाने की बजाय भूखा मरता दिखाई देता है, तो उसका कारण जातिप्रथा की कठोरता ही है। पेशों के पुनर्समायोजन की छूट ने देकर अधिकतर बेरोजगारी फैलती है, जिसका सीधा कारण जातिप्रथा है, जो हमारे देश में मौजूद है। श्रम के विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन छांट पर आधारित विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार पूर्व-नियति का सिद्धांत है। सामाजिक कार्यकुशलता का विचार हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश करता है कि औद्योगिक

प्रणाली में सबसे बड़ा दोष केवल निर्धनता नहीं है। इस प्रणाली में जो बड़ा कष्ट है, वह यह है कि बहुत ज्यादा लोग ऐसे व्यवसायों में लगे हैं, जिनके प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी ऐसे को व्यवसाय से निरंतर लगा रहना पड़े तो उस व्यक्ति को उससे पीछा छुड़ाने, उसके प्रति सद्भावना न होने और उससे बचने की इच्छा होती है। भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें हिन्दू निकृष्ट मानते हैं, इसलिए जो लोग उनमें लगे हैं, वे उनसे पीछा छुड़ाने को आतुर रहते हैं। ऐसे व्यवसायों से बचने और उन्हें त्यागने की निरंतर इच्छा बनी रहती है। इसका एकमात्र कारण वह निराशाजनक प्रभाव है, जो उन पर हिन्दू धर्म द्वारा उनके ऊपर आरोपित कलंक के कारण पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में क्या कार्यकुशलता हो सकती है, जिसमें न तो लोगों के दिल और न दिमाग अपने काम में होते हैं? इसलिए एक आर्थिक संगठन के रूप में जातिप्रथा एक हानिकारक व्यवस्था है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वाभाविक शक्तियों का दमन रहता है और सामाजिक नियमों की तत्कालीन आवश्यकताओं की प्रवृत्ति होती है।

(5)

जातिप्रथा एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है कि जाति का उद्देश्य प्रजाति की शुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अब नृजाति वैज्ञानिकों का मत है कि विशुद्ध प्रजाति के लोग कहीं नहीं हैं और संसार के सब भागों में सभी जातियों का मिश्रण है, विशेषकर भारत के लोगों के मामले में तो यह स्थिति आवश्यक है। श्री डी.आर. भडारकर ने 'हिन्दू जनसंख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंट्स इन द हिन्दू पॉपुलेशन) विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी, जिसमें विदेशी वंश का मिश्रण न हो। न केवल राजपूत और मराठा जैसी योद्धा जातियों में विदेशी रक्त का मिश्रण है, बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रांति में हैं कि वे सभी विदेशी तत्वों से मुक्त हैं।" जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा का जन्म भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिलने के बहुत बाद में हुआ। यह मानना कि जातियों की विभिन्नताएं अथवा प्रजाति की वास्तविक विभिन्नताएं और विभिन्न जातियों के संबंध में यह मानना कि वे इतनी ही अधिक विभिन्न प्रजातियां

थीं, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना है।

पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या जातीय संबंध है ? बंगाल के अछूतों और मद्रास के अछूतों में क्या जातीय संबंध है ? पंजाब के ब्राह्मणों और पंजाब के चमारों में क्या जातीय अंतर है ? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के पेरिया में क्या जातीय अंतर है ? जाति की दृष्टि से पंजाब का ब्राह्मण उसी प्रजाति का है, जिसका पंजाब का चमार है, और मद्रास के ब्राह्मण की वही जाति है जो मद्रास के पेरिया की। जातिप्रथा मानव-वंश या प्रजाति के विभाजन का निर्धारण नहीं करती। जातिप्रथा तो एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है। यदि यह मान लिया जाए कि जातिप्रथा मानव प्रजाति को विभाजित कर देती है तो यह भी सवाल किया जा सकता है कि अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अंतर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे से समागम से क्या हानि होगी ? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग प्रजाति के जीव-रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण-हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ यह नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजाति के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं—ऐसी संतानें, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगी, और जो बंध्या न होंगी। जातिप्रथा के पक्ष में आनुवंशिकता और सुजननिकी (यूरनिक्स) की तर्कहीन बातें बताई जाती हैं। अगर जातिप्रथा सुजननिकी के मूलभूत सिद्धांत के अनुकूल होती तो इसमें किसी को आपत्ति न होती, क्योंकि किसी को भी उत्तम व्यक्तियों द्वारा समागम से जाति की किस्म में सुधार लाने में आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि जातिप्रथा के कारण उत्तम स्त्रियों और पुरुषों में सही समागम किस प्रकार सुनिश्चित होता है। जातिप्रथा नकारात्मक तथ्य है। यह केवल अलग-अलग जातियों के लोगों को आपस में अंतर्विवाह का निषेध करती है। यह ऐसा सकारात्मक उपाय नहीं है, जिससे एक ही जाति के दो उत्तम नर-नारी आपस में विवाह कर सकें। यदि जाति का उद्गम सुजननिकी के सिद्धांत पर आधारित है, तो उप-जातियों का प्रादुर्भाव भी सुजननिकी के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन क्या कोई गम्भीरतापूर्वक यह कह सकता है कि उप-जातियों का उद्गम सुजननिकी के कारण हुआ है ? मैं समझता हूं कि स्पष्ट कारणों से ऐसा मानना बहुत ही असंगत है। अगर जाति का

आशय प्रजाति या नस्ल से है, तो उप-जातियों में पाए जाने वाले अंतर को प्रजातीय अंतर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब उप-जातियां भी उसी परिकल्पना के आधार पर उसी एक मूल नस्ल की उप-खंड होंगी। इससे स्पष्ट है कि उप-जातियों में आपस में रोटी-बेटी के व्यवहार पर रोक लगाने का उद्देश्य प्रजाति या रक्त की शुद्धता बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर यदि उप-जातियों का उद्‌गम सुजननिकी ही हो सकता, तो इस कथन में कोई दम नहीं है कि प्रजाति का उद्‌गम सुजननिकी है। फिर यह अगर मान भी लिया जाए कि जाति का उद्‌गम सुजननिकी के प्रयोजन से है, तो अंतर्विवाह संबंधी निषेध समझ में आ जाता है। लेकिन विभिन्न जातियों के बीच और विभिन्न उप-जातियों के बीच खान-पान पर भी निषेधाज्ञा लगाने का क्या प्रयोजन है ? आपस में खान-पान से तो रक्त पर असर नहीं पड़ता और इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि इससे प्रजाति या नस्ल सुधरेगी या खराब होगी। इससे सिद्ध है कि जाति का कोई भी वैज्ञानिक उद्‌गम कारण नहीं है और जो इसे सुजननिकी के आधार पर सही बताना चाहते हैं, वे विज्ञान का नाम लेकर घोर अवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। सुजननिकी को व्यावहारिक संभावना के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक हमें आनुवंशिकता के नियमों का पक्का ज्ञान न हो जाए।

जातिप्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जातिप्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर-जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया।

(6)

हिन्दू समाज एक मिथक मात्र है

जातिप्रथा से आर्थिक उन्नति नहीं होती। जातिप्रथा से न तो नस्ल या प्रजाति में सुधार हुआ है और न ही होगा। लेकिन इससे एक बात अवश्य सिद्ध हुई है कि इससे हिन्दू समाज पूरी तरह छिन्न-भिन्न और हताश हो गया है।

सबसे पहले हमें यह महत्वपूर्ण तथ्य समझना होगा कि हिन्दू समाज एक मिथक मात्र है। हिन्दू नाम स्वयं विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने भारतवासियों को दिया था, ताकि वे उन्हें अपने से अलग कर सकें। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण से पहले लिखे गए किसी भी संस्कृत ग्रंथ में इस नाम का उल्लेख नहीं

मिलता। उन्हें अपने लिए किसी समान नाम की जरूरत महसूस नहीं हुई थी, क्योंकि उन्हें ऐसा नहीं लगता था कि वे किसी विशेष समुदाय के हैं। वस्तुतः हिन्दू समाज कोई वस्तु है ही नहीं। यह अनेक जातियों का समवेत रूप है। प्रत्येक जाति अपने अस्तित्व से परिचित है। वह अपने सभी समुदायों में व्याप्त है और सबको स्वयं में समाविष्ट किए हुए है और इसी में उसका अस्तित्व है। जातियों का कोई मिला-जुला संघ भी नहीं है। किसी भी जाति को यह महसूस नहीं होता कि वह अन्य जातियों से जुड़ी हुई है—सिर्फ उस समय को छोड़कर, जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं। अन्य सभी अवसरों पर तो प्रत्येक जाति यह कोशिश करती है कि वह अपनी अलग सत्ता को ठीक से बनाए रखे और दूसरों से स्पष्ट रूप से अलग रहे। प्रत्येक जाति अपनों में ही खान-पान और शादी ब्याह का सम्बन्ध रखती है, यहां तक कि हर जाति अपना एक अलग पहनावा तक निश्चित करती है। इस बात से अलग दूसरा कारण क्या हो सकता है कि भारत के नर-नारी असंख्य किस्मों के परिधान पहनते हैं, जो कि पर्यटकों के लिए हैरानी का कारण है। दरअसल, हर आदर्श हिन्दू उस चूहे की तरह है जो अपने ही बिल में घुसा रहता है और दूसरों के सम्पर्क में नहीं आना चाहता। हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है, जिसे समाजविज्ञानी 'समग्र वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना समग्र वर्ग से सम्बन्धित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी ही जाति के बारे में होती है। किसी कारण यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग अपना समाज या राष्ट्र नहीं बना सकते। लेकिन अनेक भारतीयों की देशभक्ति की भावना उन्हें यह मानने की अनुमति नहीं देती कि वे एक राष्ट्र नहीं है अथवा वह विभिन्न समुदायों का मात्र एक अव्यवस्थित समूह है। वे इस पर आग्रह करते हैं कि ऊपर से अलग-अलग दिखने वाली हमारी जनता में एक मूलभूत एकता है, जो हिन्दुओं के जीवन की विशेषता है, क्योंकि उनकी आदतों, प्रथाओं, विश्वासों और विचारों में एकरूपता है, जो भारत में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके स्वभाव, रीति रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना स्वीकार्य नहीं होगा कि हिन्दू जनता को हिन्दू समाज की स्थिति प्राप्त है, ऐसा मान लेने का अर्थ है—समाज-रचना के अपरिहार्य तत्वों को सही रूप में न समझना। केवल भौतिक दृष्टि से पास-पास रहने के कारण लोगों को उस व्यक्ति से अधिक समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती जो अपने समाज से मीलों दूर रहने पर अपने समाज का सदस्य नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि केवल आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों की समानता होने से ही व्यक्तियों को 'समाज' नहीं

कहा जा सकता। चीजें भौतिक रूप से एक से दूसरे व्यक्ति के पास पहुंच सकती है—जैसे ईंटें। इसी तरह एक समुदाय की आदतें, रीति-रिवाज, धारणाएं और विचार भी दूसरे समुदाय द्वारा अपनाए जा सकते हैं और इस तरह दोनों समुदायों में समानता प्रतीत हो।

(7)

हरेक जाति एक बंद निगमित संस्था की तरह है

हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं, यह विवादास्पद है। कुछ लोगों का विचार है कि यह प्रचारमूलक धर्म कभी नहीं रहा। दूसरों की यह मान्यता है कि यह प्रचारमूलक था तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि किसी समय यह प्रचारमूलक अवश्य रहा होगा, क्योंकि यह अगर ऐसा न होता तो इसका प्रसार पूरे भारत में सर्वत्र न हो पाता। यह तथ्य भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि आज यह प्रचारमूलक नहीं रह पाया है। इसलिए सवाल यह नहीं है कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक धर्म था या नहीं। असली सवाल यह है कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक क्यों नहीं रह पाया? मेरे पास इसका यह जवाब है कि हिन्दू धर्म तब से प्रचारमूलक धर्म नहीं रह गया, जब से हिन्दुओं में जातिप्रथा का उद्‌गम हुआ। जातिप्रथा धर्म परिवर्तन नहीं होने देती। धर्म-परिवर्तन में सिर्फ यही समस्या नहीं होती कि नई धारणाएं और नए सिद्धान्त अपना लिए जाएं बल्कि दूसरी सबसे बड़ी समस्या इसमें यह पैदा होती है कि धर्म-परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए? जो भी हिन्दू अन्य धर्मियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहता है, उसे यह समस्या अनिवार्य रूप से झेलनी पड़ती है। किसी क्लब की सदस्यता तो सबके लिए समान रूप से खुली रहती है, किंतु किसी जाति विशेष की सदस्यता हर ऐरे गैरे के लिए नहीं ख़ुली रहती। जाति का नियम ही यह है कि उसकी सदस्यता उसी जाति में उत्पन्न व्यक्ति को प्राप्त होती है। जातियां स्व-शासित होती हैं। किसी को कहीं भी यह अधिकार नहीं है कि किसी जाति को किसी बात के लिए विवश करे कि वह अपने सामाजिक जीवन में किसी नव-आगन्तुक को स्वीकार कर ले। हिन्दू समाज अनेक जातियों का समूह है, और क्योंकि हर-एक जाति एक बंद निगमित संस्था की तरह है, इसलिए धर्म-परिवर्तित व्यक्ति के लिए (किसी भी जाति में) कहीं कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस जातिप्रथा ने ही हिन्दुओं को हिन्दू धर्म फैलाने से रोका और अन्य धार्मिक समुदायों को इसमें लीन होने से रोका। अत: जब तक जातिप्रथा रहेगी, हिन्दू धर्म को प्रचारात्मक धर्म नहीं बनाया जा सकता और शुद्धि न केवल मूर्खता होगी, बल्कि

निरर्थक भी होगी।

(8)

जातिप्रथा समाज सुधारकों को उत्पीड़ित करने का ढंग है

कोई भी सुधार तब शुरू होता है, जब कोई व्यक्ति अपने समुदाय के मानकों, समुदाय की सत्ता और समुदाय के हित से ऊपर और इससे अलग अपने विचारों, अपनी धारणाओं और स्वयं की स्वतन्त्रता और हित पर अधिक बल देता है। लेकिन यह सुधार आगे लगातार सम्पन्न होगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि उस व्यक्ति का समुदाय उसके दृढ़ विचारों को किस सीमा तक समर्थन देता है। अगर समुदाय में सहनशीलता की भावना है और वह अपने लोगों से न्यायोचित व्यवहार करता है, तो ऐसे व्यक्ति अपने विचारों पर दृढ़ रहेंगे और अंततः अन्य लोगों को भी नए विचारों से सहमत कराने में सफल हो जाएंगे। किंतु दूसरी ओर, अगर समुदाय सहनशील नहीं है और वह सही या गलत, किसी भी उपाय से ऐसे व्यक्तियों की आवाज को दबा देता है, तो ऐसे व्यक्ति समाप्त हो जाएंगे और सुधार की आशा भी समाप्त हो जाएगी। आजकल किसी भी जाति के पास किसी भी ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत करने का पूरा अधिकार रहता है, जिसने उस जाति के नियम को तोड़ने का अपराध किया हो। अगर इस बात को समझ लिया जाए कि जाति से बहिष्कृत होने का अर्थ है, उसे समाज के किसी भी कार्य में भाग न लेने देना, तो वस्तुतः यह कहना कठिन है कि जाति-बहिष्कार अधिक कठोर दंड है या मृत्यु। इसलिये आश्चर्य नहीं कि किसी हिन्दू में यह साहस नहीं है कि वह जाति की सीमा को तोड़कर अपनी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति कर सके। यह सही है कि आदमी अपने सहयोगियों से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकता, लेकिन यह भी सही है कि वह उनके बिना रह भी नहीं सकता। वह चाहता यह है कि उसके सभी साथी उसकी अपनी शर्तों पर उसके साथ रहें। लेकिन अगर वे लोग उसकी शर्तें नहीं मानते तो वह किसी भी शर्त पर उनका साथ लेने के लिए तैयार हो जाएगा—भले ही उसे इसके लिए पूर्णतः आत्म-समर्पण करना पड़े। कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति समाज के बिना रह नहीं सकता। मनुष्य की असहायता का लाभ उसकी जाति हर समय उठाने के लिए तैयार रहती है और वह इस पर भी बल देती है कि सभी व्यक्ति उस जाति की संहिता का अक्षरशः और तत्वतः पूरा पालन करें। कोई भी जाति किसी भी सुधारवादी व्यक्ति के जीवन को नरकतुल्य बना देने के लिए षड्यंत्र करके बड़ी आसानी से अपने को संगठित कर सकती है। अगर षड्यंत्र अपराध है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि अगर कोई आदमी अपने जाति के नियमों के

विरुद्ध कुछ कहने का साहस करता है, तो उसे जाति बहिष्कृत करने के जघन्य अपराध को कानून में दंडनीय अपराध क्यों नहीं बनाया जाता। लेकिन आजकल जो स्थिति है, उसके अनुसार कानून ने भी हर जाति को इस बात का पूरा अधिकार दे रखा है कि वह अपने सदस्यों के लिए नियम बनाए, उन्हें उनके अनुसार चलाए और विरोधियों को जाति-बहिष्कृत करके दंडित करे। इस प्रकार रूढ़िवादियों ने सुधारकों को उत्पीड़ित करने और सुधारों को समाप्त करने के लिए जाति को सशक्त माध्यम के रूप में अपनाया है।

(9)

जाति प्रथा ने जन चेतना को नष्ट कर दिया है

हिन्दुओं की नीति और आचार पर जातिप्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जातिप्रथा ने जन-चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। क्या हिन्दू किसी भी महान् और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते हैं? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा, जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण, ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा, आदि आदि। हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं

ने अपनी जाति के हितों-स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है ?

(10)

आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है

अगर आप जाति के विरूद्ध है, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है ? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। और ऐसा क्यों न हो ? भाईचारे के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है ? मेरे विचार से तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसी भरपूर सरणियां होनी चाहियें कि वह समाज के एक हिस्से में हुए परिवर्तन की सूचना अन्य हिस्सों को दे दें। आदर्श समाज में अनेक प्रकार के हित होने चाहिए, जिन पर लोग सोच-समझकर विचार-विमर्श करें और उनके बारे में एक दूसरे को बताएं और सब उसमें हिस्सा लें। समाज में विभिन्न लोगों के बीच सम्पर्क के ऐसे बहुविध और निर्विवाद बिंदु होने चाहिएं, जहां साहचर्य या संगठन के अन्य रूपों से भी संवाद हो सके। दूसरे शब्दों में, समाज के भीतर सम्पर्क का सर्वत्र प्रसार होना चाहिए। इसी को भाईचारा कहा जाता है और यह प्रजातंत्र का दूसरा नाम है। प्रजातंत्र, सरकार का एक स्वरूप मात्र नहीं है। यह वस्तुत: साहचर्य की स्थिति में रहने का एक तरीका है, जिसमें सार्वजनिक अनुभव का समवेत रूप से संप्रेषण होता है। प्रजातंत्र का मूल है, अपने साथियों के प्रति आदर और मान की भावना। क्या स्वाधीनता पर किसी को भी कोई आपत्ति हो सकती है ? अगर स्वाधीनता का अर्थ निर्बाध रूप से कहीं भी आने-जाने का अधिकार है, या जीवित रहने तथा शरीर की रक्षा का अधिकार है, तो इसमें कुछ लोगों को ही आपत्ति होगी। अगर स्वाधीनता का अर्थ अपने शरीर को पूर्णत: स्वस्थ रखने के लिए जीविका-उपार्जन के लिए संपत्ति, उपकरणों और सामग्री पर अधिकार है, तो इस पर भी कोई आपत्ति नहीं है। स्वाधीनता को वह लाभ क्यों न दिया जाए, जो किसी व्यक्ति की शक्तियों के प्रभावपूर्ण और सक्षम उपयोग से प्राप्त हो सकता है। जातिप्रथा के जो समर्थक जीवन, शरीर और संपत्ति के अधिकार को ही स्वाधीनता मानते हैं, वे स्वाधीनता के इस स्वरूप को एकदम स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि इसमें अपनी जीविका को स्वयं चुनने का अधिकार निहित है, किंतु इस स्वाधीनता पर आपत्ति करने का अर्थ है, दासता को शाश्वत बनाना, क्योंकि दासता का अर्थ केवल कानूनी अधीनीकरण या परतंत्रता नहीं है।

इसका अर्थ है, समाज में व्याप्त वह स्थिति, जिसमें कुछ लोगों को विवश होकर अन्य लोगों से उन प्रयोजनों को भी स्वीकार करना होता है, जिसके अनुसार उन्हें आचरण करना है। यह स्थिति तब भी रह सकती है, जब कानूनी अर्थ में दासता का अस्तित्व न हो। यह स्थिति जातिप्रथा की तरह ऐसी दशाओं में पाई जाती है, जहां कुछ व्यक्ति अपनी पसंद का धंधा छोड़कर स्वयं पर थोपे गए अन्य धंधे करने पर विवश हो जाते हैं। क्या समानता पर कोई आपत्ति हो सकती है ? फ्रांस की क्रांति के नारे का यह सबसे विवादास्पद अंश रहा है। समानता के विरूद्ध आपत्तियां ठीक हो सकती हैं और यही मानना होगा कि सभी लोग एक समान नहीं होते। लेकिन उससे क्या होता है। समानता भले ही काल्पनिक वस्तु हो। किंतु फिर भी उसे निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करना ही होगा। मनुष्य की शक्ति तीन बातों पर निर्भर है (1) शारीरिक आनुवंशिकता (2) सामाजिक विरासत या दाय, जो उसे माता-पिता द्वारा देखभाल, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान का संचय और उसे बर्बर की अपेक्षा अधिक सक्षम मनुष्य बनाने वाले सभी साधन के रूप में प्राप्त होते हैं, और (3) उसकी अपनी कोशिशें। इन तीनों पहलुओं की दृष्टि से नि:संदेह मनुष्य असमान है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या उनके असमान होने के कारण हम भी उन्हें असमान मानकर व्यवहार करें। इस प्रश्न का जवाब समानता के विरोधियों को अवश्य देना होगा। जहां तक व्यक्तिवादियों का दृष्टिकोण है, लोगों को इसलिए असमान माना जाना चाहिए, क्योंकि उनके प्रयत्न भी असमान होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की शक्ति के पूर्ण विकास के लिए उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना वांछनीय है। लेकिन अगर मनुष्य को उल्लिखित दो कारणों से असमान मानकर उसके साथ व्यवहार किया जाए तो उसका क्या परिणाम होगा ? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जन्म, शिक्षा, परिवार का नाम, व्यावसायिक सम्बन्ध और विरासत में मिली सम्पति की दृष्टि से बेहतर है, वह अधिक अच्छा माना जाता है। किंतु ऐसी स्थितियों में जो चयन होगा, उसे योग्य व्यक्ति का चयन नहीं कहा जाएगा। चयन विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्ति का होगा। इसलिए यदि हम तीसरे कारण से लोगों को असमान मानने पर बाध्य होते हैं, तो यह भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि पहले दो कारणों से हम लोगों को यथासम्भव एक समान समझें। दूसरी ओर, यह भी तर्क दिया जा सकता है कि यदि समाज के लिए अपने सदस्यों का अधिकतम सहयोग लेना अच्छा है, ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि प्रत्येक कार्य के आरम्भ में उन्हें यथासम्भव एक समान मानकर उनसे व्यवहार किया जाए। यह एक कारण है, जिसके फलस्वरूप हम एक समानता को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन समानता को स्वीकार करने का एक

अन्य कारण भी है। एक राजनीतिज्ञ को असंख्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके पास न तो समय है और न यह जानकारी कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अलग अलग पहचाने और तदनुसार यथोचित व्यवहार करे, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता या उसकी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्यों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कितना ही वांछनीय या तर्कसंगत हो, तथापि विशाल जनसंख्या को वर्गीकृत करना या उन्हें अलग-अलग करना सम्भव नहीं है। इसलिए राजनीतिज्ञ को एक सरल और व्यापक नियम का पालन करना चाहिए और वह सरल और व्यापक नियम यह है कि सभी लोगों को एक समान माना जाए, इसलिए नहीं कि सब समान हैं, बल्कि इसलिए कि उनका वर्गीकरण या उन्हें अलग अलग करना असम्भव है। समानता का सिद्धान्त पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण है, लेकिन कुल मिलाकर यही तरीका है, जिससे कोई राजनीतिज्ञ राजनीति कर सकता है, क्योंकि राजनीति पूर्णतः व्यावहारिक विषय है, जिसकी कसौटी भी पूर्णतः व्यावहारिक होती है।

(11)

चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन की अपमानजनक पद्धति है

लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है जिसका आदर्श कुछ और ही है। वे स्वयं को आर्यसमाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्ण्य, अर्थात् पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसा कि भारत में है। अपने इस सिद्धान्त को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए चातुर्वर्ण्य के ये प्रचारक बहुत सोच-समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्ण्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूं कि भले ही यह चातुर्वर्ण्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने गुण के अनुसार हिन्दू समाज में स्थान मिलता है, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण न भी कहा जाए तो भी उसे आदर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, तो क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा। आर्यसमाजी लोगों का ध्यान अभी तक इस बात पर नहीं जा सका है कि अगर यूरोपीय समाज अपने सिपाहियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिए बिना उनका सम्मान कर सकता है तो हिन्दू समाज को ऐसा करने में क्या कठिनाई है।

इन नामों को जारी रखने में एक और भी आपत्ति है, सभी सुधारों के मूल में यह तथ्य होता है कि मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति लोगों की धारणाओं, भावनाओं और मानसिक प्रवृति में परिवर्तन हो जाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे नाम हैं, जिनकी हर हिन्दू के मस्तिष्क में एक निश्चित और रूढ़ धारणा बनी हुई है। वह धारणा यह है कि ये सभी जातियां जन्म के आधार पर एक सोपानिक क्रम में हैं। जब तक ये नाम बने रहेंगे, तब तक हिन्दू जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ऊंची से लेकर निम्नतम जाति के सोपानिक क्रम में मानते रहेंगे और तदनुसार व्यवहार करेंगे। हिन्दुओं को यह सब कुछ भूल जाना होगा। लेकिन जब तक़ ये पुराने नाम बने रहेंगे, तब तक वह इन्हें कैसे भुला सकेंगे—ये तो उनके दिमाग में उनकी पुरानी धारणाओं को पुनः जागृत करते रहेंगे। अगर लोगों के मन में नई धारणाओं को स्थापित करना है तो उन्हें नया नाम देना भी जरूरी है। पुराने नाम को बनाए रखने का अर्थ किसी भी सुधार को निरर्थक बना देना होगा। गुण के आधार पर इस चातुर्वर्ण्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अनर्थकारी नामों से रखना—जिनसे जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन का संकेत मिलता है, समाज के लिए एक फन्दे की तरह है।

(12)

स्त्रियों का क्या होगा ?

मेरे लिए यह चातुर्वर्ण्य जिसमें पुराने नाम जारी रखे गए हैं, घिनौनी वस्तु है, जिससे मेरा पूरा व्यक्तित्व विद्रोह करता है। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि मैं केवल भावनाओं के आधार पर चातुर्वर्ण्य के प्रति आपत्ति प्रकट करूं। इसका विरोध करने के लिए मेरे पास अधिक ठोस कारण हैं। इस आदर्श की अच्छी जांच-परख के बाद मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यन्त असफल रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से भी चातुर्वर्ण्य से ऐसी अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, जिन पर इसके समर्थकों ने ध्यान नहीं दिया। जाति का आधारभूत सिद्धान्त वर्ण के आधारभूत सिद्धान्त से मूल रूप से भिन्न है, न केवल मूल रूप से भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्पर विरोधी है। पहला सिद्धान्त गुण पर आधारित है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म के आधार पर ऊंची हैसियत पा जाए तो आप उसे कैसे उस जगह से हटने के लिए बाध्य करेंगे ? आप लोगों को इस बात के लिए कैसे बाध्य करेंगे कि वे उस व्यक्ति को जिसकी भले ही जन्म के आधार पर हैसियत निम्न स्तर

की रही हो उसे उसके गुण के आधार पर प्रतिष्ठा प्रदान करें। उसके उद्देश्य से 'वर्ण व्यवस्था' की स्थापना के लिए पहले जातिप्रथा को समाप्त करना होगा? लेकिन ऐसा कैसे किया जाए? जन्म के आधार पर बनी चार हजार जातियों को मात्र चार वर्गों में किस तरह परिवर्तित किया जा सकता है? चातुर्वर्ण्य के समर्थक चातुर्वर्ण्य की स्थापना की सफलता चाहते हैं तो उन्हें एक अन्य कठिनाई का भी समाधान ढूंढ़ना होगा।

चातुर्वर्ण्य के समर्थकों ने यह नहीं सोचा है कि उनकी इस वर्ण व्यवस्था में स्त्रियों का क्या होगा? क्या उन्हें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्णों में विभाजित किया जाएगा, या उन्हें अपने पतियों का दर्जा प्राप्त कर लेने दिया जाएगा? यदि स्त्री का दर्जा शादी के बाद बदल जाएगा तो चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का क्या होगा, अर्थात् क्या किसी व्यक्ति का दर्जा उसके गुण पर आधारित होना चाहिए? यदि उनका वर्गीकरण उनके गुण के आधार पर किया जाता है, तो क्या उनका ऐसा वर्गीकरण नाममात्र का होगा या वास्तविक। यदि वह नाममात्र का है, तो बेकार है। इस स्थिति में तो चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को यह स्वीकार करना होगा कि उनकी वर्ण-व्यवस्था स्त्रियों पर लागू नहीं होती। यदि यह वास्तविक है, तो क्या चातुर्वर्ण्य के समर्थक स्त्रियों पर इस व्यवस्था को लागू करने के तर्कसंगत परिणामों का अनुसरण करने के लिए तैयार हैं? उन्हें महिला पुरोहित तथा महिला सैनिक रखने के लिए तैयार रहना होगा। हिन्दू समाज महिला शिक्षकों तथा महिला बैरिस्टरों का अभ्यस्त हो गया है। वह महिला किण्वकों और महिला कसाइयों के लिए भी अभ्यस्त हो सकता है। लेकिन वह एक बहादुर आदमी होगा, जो यह कहेगा कि हिन्दू समाज महिला पुरोहितों और महिला सैनिकों के लिए अनुमति देगा। लेकिन यह स्त्रियों पर चातुर्वर्ण्य लागू करने का तर्कसंगत परिणाम होगा। इन कठिनाइयों के बावजूद मेरा विचार है कि एक जन्मजात मूर्ख को छोड़कर कोई भी व्यक्ति यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता कि चातुर्वर्ण्य का फिर से सफल उद्‌भव होगा।

(13)

यह मान भी लिया जाए कि चातुर्वर्ण्य व्यावहारिक है, फिर भी मैं यह निश्चयपूर्वक कहूंगा कि यह एक बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है कि ब्राह्मणों द्वारा विद्या का संवर्धन किया जाना चाहिये, क्षत्रिय को अस्त्र-शस्त्र धारण करना चाहिए, वैश्य को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को सेवा करनी चाहिए, हालांकि यह एक श्रम विभाजन ही था। क्या इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह था कि शूद्र को धन सम्पति

आदि अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है, या यह था कि उसे धन सम्पति आदि अर्जित करनी ही नहीं चाहिए। यह बहुत ही दिलचस्प प्रश्न है। चातुर्वर्ण्य सिद्धान्त के समर्थक इसका पहला अर्थ यह निकालते हैं कि शूद्र को धन सम्पति आदि अर्जित करने का कष्ट क्यों उठाना चाहिए, जब कि तीनों वर्ण उसकी सहायता के लिए मौजूद हैं। शूद्र को शिक्षा प्राप्त करने की परवाह क्यों करनी चाहिए, जब कि एक ब्राह्मण मौजूद है। यदि शूद्र को लिखने पढ़ने की जरूरत होगी तो वह ब्राह्मण के पास जा सकता है। शूद्र को शस्त्र धारण करने की चिंता क्यों करनी चाहिए, जब कि उसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय मौजूद है। इस अर्थ में समझे गए चातुर्वर्ण्य–सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि शूद्र एक आश्रित व्यक्ति है और तीनों वर्ण उसके संरक्षक। इस व्याख्या के अनुसार यह एक साधारण, समुनतकारी और आकर्षक सिद्धान्त है। चातुर्वर्ण्य की संकल्पना पर जोर देने वाले दृष्टिकोण को सही मान लेने पर मुझे यह वर्ण व्यवस्था न तो स्पष्ट दिखाई देती है और न ही सरल। उस स्थिति में क्या होगा, जब ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय विद्या प्राप्त करने, व्यापार करने तथा वीर सैनिक बनने के लिए अपने-अपने कर्त्तव्यों को छोड़ दे? इसके विपरीत, मान लीजिए कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, किंतु शूद्र के प्रति या एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन करते हैं, तब शूद्र का क्या होगा जब तीनों वर्ण उसकी सहायता न करें, या तीनों मिलकर उनको दबा कर रखें। उस स्थिति में शूद्र या वैश्य तथा क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा, जब उसकी अज्ञानता का लाभ उठाने वाला ब्राह्मण हो? शूद्र तथा ऐसे मामले में ब्राह्मण और वैश्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला कौन होगा, जब लुटेरा क्षत्रिय हो? एक वर्ण का दूसरे पर निर्भर रहना अनिवार्य है। कभी कभी एक वर्ण को दूसरे वर्ण पर निर्भर रहने दिया जाता है। लेकिन परमावश्यकताओं की स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे पर निर्भर क्यों बनाया जाए? शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त करनी चाहिए। रक्षा के साधन सभी लोगों के पास होने चाहिएं। प्रत्येक व्यक्ति के आत्म परीक्षण के लिए ये परम आवश्यकताएं हैं। किसी अशिक्षित और निरस्त्र व्यक्ति को इस बात से क्या सहायता मिल सकती है कि उसका पड़ोसी शिक्षित और सशस्त्र है? अत: यह संपूर्ण सिद्धान्त बेतुका है। ये ऐसे प्रश्न है, जिनसे चातुर्वर्ण्य के समर्थक चिंतित प्रतीत नहीं होते। लेकिन ये अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। यदि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों की इस संकल्पना को मान लिया जाए कि विभिन्न वर्णों के बीच आश्रित और संरक्षक का जो सम्बन्ध है, चातुर्वर्ण्य की वही वास्तविक संकल्पना है तो यह स्वीकार करना होगा कि इसमें संरक्षक के दुष्कर्मों से 'आश्रित' के हितों की रक्षा के

लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई है। संरक्षक और आश्रित का सम्बन्ध भले ही ऐसी वास्तविक संकल्पना हो, जिस पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था आधारित थी, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि व्यवहार में यह सम्बन्ध वस्तुत: मालिक और नौकर का था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के आपसी सम्बन्ध भी संतोषजनक नहीं थे, फिर भी वे मिलकर कार्य करने में सफल हुए। ब्राह्मण ने क्षत्रिय की खुशामद की और दोनों ने वैश्य को जीवित रहने दिया, ताकि वे उसके सहारे जीवित रह सकें। लेकिन तीनों शूद्र को पद-दलित करने के लिए सहमत हो गए। उसे धन-सम्पति अर्जित करने की अनुमति नहीं दी गई, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वह तीनों वर्णों पर निर्भर ही न रहे। उसे विद्या प्राप्त करने से रोका गया कि कहीं ऐसा न हो कि वह अपने हितों के प्रति सजग हो जाए। उसके लिए शस्त्र धारण करना निषिद्ध था कि कहीं ऐसा न हो कि वह उनकी सत्ता के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए साधन प्राप्त कर ले। तीनों वर्ण शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार करते थे, इसका प्रमाण मनु के कानून में मिलता है। सामाजिक अधिकारों के सम्बन्ध में मनु के कानून से ज्यादा बदनाम और कोई विधि संहिता नहीं है। सामाजिक अन्याय के सम्बन्ध में कहीं से भी लिया गया कोई भी उदाहरण मनु कानून के समक्ष फीका पड़ जाता है। अधिकांश जनता ने इन सामाजिक बुराईयों को क्यों सहन किया? विश्व के अन्य देशों में सामाजिक क्रांतियां होती रही हैं। भारत में सामाजिक क्रांतियां क्यों नहीं हुईं, यह एक ऐसा प्रश्न है जो मुझे सदैव कष्ट देता रहा है। मैं इसका केवल एक ही उत्तर दे सकता हूँ और वह यह है कि चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ग सीधी कार्रवाई करने में पूर्णत: असक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते, और हथियारों के बिना वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सभी हलवाहे थे या हलवाहे बना दिए गए थे। और उन्हें हलों को तलवारों में बदलने की कभी भी अनुमति नहीं दी गई। उनके पास संगीनें नहीं थीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया। उन्हें अपने छुटकारे का न तो रास्ता ही मालूम था और न ही उनके पास साधन थे। उन्होंने अनंत दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया, जिससे उन्हें कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह ठीक है कि यूरोप में भी शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर व्यक्ति का शोषण करने में पीछे नहीं रहा। लेकिन वहां इतने शर्मनाक ढंग से कमजोर व्यक्ति का शोषण नहीं किया गया, जितना कि भारत में हिन्दुओं ने किया था। यूरोप में शक्तिशाली और कमजोर के बीच भारत की

अपेक्षा अधिक हिंसात्मक रूप में संग्राम चलता रहा। फिर भी, यूरोप में कमजोर व्यक्ति को सेना में अपने शारीरिक शस्त्र, दुख-दर्द में राजनीतिक शस्त्र और शिक्षा में नैतिक शस्त्र का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। यूरोप में शक्तिशाली व्यक्ति ने स्वतन्त्रता के उक्त तीन हथियारों को कमजोर व्यक्ति से कभी नहीं छीना। लेकिन भारत में चातुर्वर्ण्य के अनुसार जन-समुदाय को उक्त तीनों शस्त्र धारण करने से वंचित किया गया था। चातुर्वर्ण्य से बढ़कर सामाजिक संगठन की और कोई अपमानजनक पद्धति नहीं हो सकती। यह वह व्यवस्था है, जिसमें लोगों की उपयोगी क्रिया समाप्त, ठप तथा अशक्त हो जाती है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इतिहास में इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

(14)

जातिप्रथा का वास्तविक उपचार अन्तर्जातीय विवाह है

मेरी राय में इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। आप समाज को रक्षा या अपराध के लिए प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था की नींव पर कोई निर्माण नहीं कर सकते। आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई भी निर्माण करेंगे, वह चटक जाएगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।

अब केवल एक प्रश्न रहता है, जिस पर विचार करना है। वह यह है कि 'हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सुधार कैसे किया जाए?' जातिप्रथा को कैसे समाप्त किया जाए? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसा विचार व्यक्त किया गया है कि जाति-व्यवस्था में सुधार करने के लिए पहला कदम यह होना चाहिए कि उप-जातियों को समाप्त किया जाए। यह विचार इस उप-धारणा पर आधारित है कि जातियों के बीच तौर-तरीकों और स्तर के अपेक्षाकृत उप-जातियों के तौर-तरीकों तथा स्तर में अधिक समानता है। मेरे विचार से यह गलत धारणा है। डकन तथा दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की तुलना में उत्तर तथा मध्य भारत के ब्राह्मण सामाजिक रूप से निम्न श्रेणी के हैं। उत्तर तथा मध्य प्रांत के ब्राह्मण केवल रसोइया और पानी पिलाने वाले हैं, जब कि डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक स्तर बहुत ऊंचा है। दूसरी ओर, उत्तरी भारत के वैश्य और कायस्थ बौद्धिक एवं सामाजिक रूप से डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के समकक्ष होते हैं। इसके अतिरिक्त, आहार के मामले में भी डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और

कश्मीरी और बंगाल के ब्राह्मण में कोई समानता नहीं हैं। दक्षिण के ब्राह्मण शाकाहारी होते हैं, जब कि कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मण मांसाहारी। जहां तक आहार का सम्बन्ध है, डकन और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतर गुजराती, मारवाड़ी, बनियों और जैन जैसी जातियों में काफी समानता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक से दूसरी जाति में संक्रमण को आसान बनाने के लिए उत्तरी भारत के कायस्थों और दक्षिण भारत की अन्य ब्राह्मणेतर जातियों को डकन तथा द्रविड़ प्रदेश की ब्राह्मणेतर जातियों में मिला देना दक्षिण भारत के ब्राह्मणों को उत्तर भारत के ब्राह्मणों में मिला देने के अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक होगा। लेकिन यदि यह मान लिया जाए कि उप-जातियों का विलय सम्भव है, तो इस बात की क्या गारंटी है कि उप जातियों के समाप्त होने के परिणामस्वरूप जातियां निश्चित रूप से समाप्त हो जाएंगी। इस स्थिति में उप-जातियों के समाप्त होने से जातियों की जड़ें और मजबूत हो जाएंगी और वे शक्तिशाली बन जाएंगी। परिणामस्वरूप वे अधिक हानिकर सिद्ध होंगी। अत: यह उपाय न तो व्यवहार्य है और न ही कारगर। यह उपाय निश्चित रूप से गलत सिद्ध होगा।

जाति-व्यवस्था समाप्त करने की एक और कार्य योजना है कि अंतर्जातीय खान-पान का आयोजन किया जाए। मेरी राय में यह उपाय भी पर्याप्त नहीं है। ऐसी अनेक जातियां हैं, जो अंतर्जातीय खान-पान की अनुमति देती हैं। इस विषय में सामान्य अनुभव यह रहा है कि अंतर्जातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने से ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना अर्थात् पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिन्दुओं में अंतर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा। गैर-हिन्दुओं में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। जहां समाज सम्बन्धों के ताने-बाने से सुगठित होगा, वहां विवाह जीवन की एक साधारण घटना होगी। लेकिन जहां समाज छिन्न-भिन्न है, वहां बाध्यकारी शक्ति के रूप में विवाह की परम आवश्यकता होती है। अत: जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय विवाह ही है। जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए जाति-विलय जैसे उपाय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा। आपके जातपांत तोड़क मंडल ने आक्रमण की यही नीति अपना रखी है। यह सीधा और सामने का आक्रमण है। मैं

आपके सही निदान और हिन्दुओं से यह कहने का साहस दिखाने के लिए आपको बधाई देता हूं कि वास्तव में उनमें (हिन्दुओं) क्या दोष है। सामाजिक अत्याचार के मुकाबले राजनीतिक अत्याचार कुछ भी नहीं है और वह सुधारक जो समाज का विरोध करता है, उस राजनीतिज्ञ से अधिक साहसी होता है जो सरकार का विरोध करता है। आपका यह कहना सही है कि जाति-व्यवस्था उसी स्थिति में समाप्त होगी, जब रोटी-बेटी का सम्बन्ध सामान्य व्यवहार में आ जाए। आपने बीमारी की जड़ का पता लगा लिया है। लेकिन क्या बीमारी के लिए आपका नुसखा ठीक है ? यह प्रश्न अपने आपसे पूछिए। अधिसंख्य हिन्दू रोटी-बेटी का सम्बन्ध क्यों नहीं करते ? आपका उद्देश्य लोकप्रिय क्यों नहीं है ? उसका केवल एक ही उत्तर है और वह है कि रोटी-बेटी का सम्बन्ध उन आस्थाओं और धर्म-सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, जिन्हें हिन्दू पवित्र मानते हैं। जाति ईंटों की दीवार का कांटेदार तारों की लाइन जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जो हिन्दुओं को मेल मिलाप से रोकती हो और जिसे तोड़ना आवश्यक हो। जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है। अत: जाति-व्यवस्था को नष्ट करने का अर्थ भौतिक रूकावटों को दूर करना नहीं है। इसका अर्थ विचारात्मक परिवर्तन से है। जाति व्यवस्था बुरी हो सकती है। जाति के आधार पर ऐसा घटिया आचरण किया जा सकता है, जिसे मानव के प्रति अमानुषिकता कहा जा सकता है। फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि हिन्दू समुदाय द्वारा जाति प्रथा मानने का कारण यह नहीं है कि उनका व्यवहार अमानुषिक और अन्यायपूर्ण है। वह जात पांत को इसलिए मानते हैं, क्योंकि वह अत्यधिक धार्मिक होते हैं। अत: जातपांत मानने में लोग दोषी नहीं है। मेरी राय में उनका धर्म दोषी है, जिसके कारण जाति-व्यवस्था की धारणा का जन्म हुआ है। यदि यह बात सही है तो यह स्पष्ट है कि वह शत्रु जिसके साथ आपको संघर्ष करना है, वे लोग नहीं है जो जातपांत मानते हैं, बल्कि वे शास्त्र हैं, जिन्होंने जाति धर्म की शिक्षा दी है। रोटी-बेटी का सम्बन्ध न करने या समय-समय पर अंतर्जातीय खान-पान और अंतर्जातीय विवाहों का आयोजन न करने के लिए लोगों की आलोचना या उनका उपहास करना वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने का एक निरर्थक तरीका है। वास्तविक उपचार यह है कि शास्त्रों से लोगों के विश्वास को समाप्त किया जाए। यदि शास्त्रों ने लोगों के धर्म, विश्वास और विचारों को ढालना जारी रखा तो आप कैसे सफल होंगे ? शास्त्रों की सत्ता का विरोध किए बिना, लोगों को उनकी पवित्रता और दंड विधान में विश्वास करने के लिए अनुमति देना और फिर उनके अविवेकी और अमानवीय कार्यों के लिए उन्हें दोष लगाना और उनकी आलोचना करना सामाजिक

सुधार करने का अनुपयुक्त तरीका है। प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी समेत अस्पृश्यता को समाप्त करने वाले समाज सुधारक यह महसूस नहीं करते हैं कि लोगों के कार्य मात्र उन धर्म-विश्वासों के परिणाम हैं, जो शास्त्रों द्वारा उनके मन में पैदा कर दिए गए हैं। लोग तब तक अपने आचरण में परिवर्तन नहीं करेंगे, जब तक वे शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना नहीं छोड़ देते, जिस पर उनका आचरण आधारित है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे प्रयासों का कोई सकारात्मक परिणाम न निकले। आप भी वही गलती कर रहे हैं, जो अस्पृश्यता को समाप्त करने के उद्देश्य से काम करने वाले समाज सुधारक कर रहे हैं। रोटी-बेटी के सम्बन्ध के लिए आंदोलन करना और उनका आयोजन करना कृत्रिम साधनों से किए जाने वाले, बलात् भोजन कराने के समान है। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन से मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिंड छुड़ाइए, फिर देखिए, वह आपके कहे बिना अपने आप अंतर्जातीय खान-पान तथा अंतर्जातीय विवाह का आयोजन करेगा / करेगी।

(15)

जाति-व्यवस्था को नष्ट करना ही सुधार है

आपको सफलता मिलने के अवसर क्या हैं ? सुधार की विभिन्न किस्में हैं। एक किस्म वह है जो लोगों की धार्मिक धारणा से सम्बन्धित नहीं है, लेकिन उसका स्वरूप विशुद्ध रूप से धर्म निरपेक्षता वाला है। सुधार की दूसरी किस्म का सम्बन्ध लोगों की धार्मिक भावना से है। सामाजिक सुधारों की इन किस्मों के दो प्रकार हैं। एक में, सुधार धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप होता है और उन लोगों से जो इन सिद्धान्तों से विचलित हो गए हैं, यह कहा जाता है कि वे उनको फिर से स्वीकार कर लें और उनका पालन करें। दूसरे प्रकार के सुधार में, न केवल धार्मिक सिद्धान्तों में हस्तक्षेप किया जाता है, बल्कि उनका पूर्ण रूप से विरोध किया जाता है और लोगों से यह कहा जाता है कि वे इन सिद्धान्तों का पालन न करें और उनकी सत्ता की अवज्ञा करें। जाति-व्यवस्था ऐसे कुछ धार्मिक विश्वासों का स्वाभाविक परिणाम हैं, जो शास्त्र-सम्मत हैं। शास्त्रों के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर द्वारा प्रेरित उन ऋषियों का आदेश निहित है, जो अलौकिक प्रज्ञा से सम्पन्न थे। अत: ऋषियों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि उल्लंघन किया जाएगा तो पाप लगेगा। सुधार का एक और प्रकार है—वह है, 'जाति-व्यवस्था को नष्ट करना।' यह सुधार तीसरे वर्ग के अंतर्गत आता है। लोगों से जातपांत त्यागने के

लिए कहने का अर्थ, उनको मूल धार्मिक धारणाओं के विपरीत चलने के लिए कहना है। यह स्पष्ट है कि सुधार का पहला और दूसरा मार्ग सरल है। लेकिन तीसरे मार्ग के सुधार में अत्यधिक कार्य करना होगा, जो प्राय: असम्भव सा है। हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था को पवित्र मानते हैं। जाति-व्यवस्था का आधार ईश्वरीय है। अत: आपको उस पवित्रता और देवत्व को नष्ट करना होगा, जो जाति व्यवस्था में समाया हुआ है। अंतिम विश्लेषण के रूप में, इसका अर्थ यह है कि आपको शास्त्रों और वेदों की सत्ता समाप्त करनी होगी।

आपमें से कुछ यह कहेंगे कि यह एक मामूली बात है कि जातिप्रथा समाप्त करने के लिए आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए ब्राह्मण आगे आएं अथवा नहीं। मेरे विचार से इस दृष्टिकोण का अपनाया जाना समाज के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा अदा की गई भूमिका की उपेक्षा करना होगा। चाहे आप इस सिद्धान्त को मानें या न मानें कि एक महान पुरुष इतिहास का निर्माता होता है, लेकिन आपको इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग रहा है, वह भले ही शासक वर्ग न रहा हो। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। किसी भी देश की अधिकांश जनता विचारशील एवं क्रियाशील जीवन व्यतीत नहीं करती। ऐसे लोग प्राय: बुद्धिजीवी वर्ग का अनुकरण और अनुगमन करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का सम्पूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तो उस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा। यह ठीक है कि प्रज्ञा अपने आपमें कोई गुण नहीं है। यह केवल साधन है और साधन का प्रयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है, जिसे एक बुद्धिमान व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान व्यक्ति भला हो सकता है, लेकिन साथ ही वह दुष्ट भी हो सकता है। उसी प्रकार बुद्धिजीवी वर्ग उच्च विचारों वाले व्यक्तियों का एक दल हो सकता है, जो सहायता करने के लिए तैयार रहता है और पथभ्रष्ट लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए तैयार रहता है। बुद्धिजीवी वर्ग धोखेबाजों का एक गिरोह या संकीर्ण गुट के वकीलों का निकाय हो सकता है, जहां से उसे सहायता मिलती है। आपको यह सोचकर खेद होगा कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है। आप इस बात पर खेद व्यक्त करेंगे कि ये दोनों एक हैं। बुद्धिजीवी वर्ग का अस्तित्व किसी एक जाति से आबद्ध होना चाहिए और इस बुद्धिजीवी वर्ग को ब्राह्मण जाति के हितों एवं आंकाक्षाओं में साझेदारी

करनी चाहिए, जिसने अपने आपको देश के हितों के बजाए उस जाति के हितों का अभिरक्षक समझ रखा है। सारी स्थिति अत्यन्त खेदजनक हो सकती है। लेकिन सच्चाई यह है कि ब्राह्मण लोग ही हिन्दुओं का बुद्धिजीवी वर्ग है। यह केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं है, बल्कि यह वह वर्ग है जिसका कि शेष हिन्दू लोग बहुत आदर करते हैं। हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है कि ब्राह्मण भूदेव है—'वर्णानाम् ब्राह्मणों गुरू'। हिन्दुओं को यह पढ़ाया जाता है कि उनके शिक्षक केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं। मनु ने कहा है, ''यदि यह पूछा जाए कि धर्म के उन विषयों में क्या किया जाएगा, जिनका कि विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया है, तो उत्तर यह है कि शिष्ट ब्राह्मण जो भी प्रस्तुत करेंगे, वह विधिमान्य होगा।''

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मण ब्रूयुः सधर्मः स्यादशङ्कितः॥

जब ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग जिसने शेष हिन्दू समाज पर नियंत्रण कर रखा है, जाति-व्यवस्था में सुधार करने का विरोधी है तभी मुझे जातिप्रथा समाप्त करने वाले आंदोलन का सफल होना नितांत असम्भव दिखाई देता है।

मैं यह क्यों कहता हूं कि यह कार्य असम्भव है, इसका दूसरा कारण तब स्पष्ट होगा, जब आप यह याद रखेंगे कि जाति-व्यवस्था के दो पक्ष हैं। पहले पक्ष के अनुसार मनुष्यों को अलग-अलग समुदायों में विभाजित किया जाता है। जाति-व्यवस्था के दूसरे पक्ष के अनुसार सामाजिक दर्जे में इन समुदायों का सोपानिक क्रम निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक जाति को गर्व है और इस बात से संतुष्टि है कि वह जाति-क्रम में किसी अन्य जाति से ऊंची है। इस श्रेणीकरण के बाह्य लक्षण के रूप में सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी एक श्रेणीकरण है, जिन्हें शास्त्रीय रूप से 'अष्टाधिकार' और 'संस्कार' कहा जाता है। किसी जाति का दर्जा जितना ऊंचा होगा, उतने ही अधिक उसके अधिकार होंगे। जिस जाति का दर्जा जितना नीचा होगा, उतने ही कम उसके अधिकार होंगे। समुदायों के इस श्रेणीकरण तथा जातियों के इस सोपान ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध एक सामूहिक मोर्चा खोलना असम्भव बना दिया है। यदि कोई जाति अपने से ऊंची जाति के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध करने के अधिकार का दावा करती है तो उसका तत्काल निषेध कर दिया जाता है और शरारती लोग जिनमें अनेक ब्राह्मण भी शामिल हैं, यह कहते हैं कि यह रोटी-बेटी का सम्बन्ध अपने से नीची जाति तक ही अनुमत होगा। सभी लोग जाति-व्यवस्था के दास हैं। लेकिन सभी दासों का दर्जा बराबर नहीं है।

(16)

वेदों और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा

जाति तथा वर्ण ऐसे विषय हैं, जिन पर वेदों और स्मृतियों में विचार किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यदि किसी हिन्दू से तर्क करने का आग्रह किया जाए तो उस पर कोई असर नहीं होता। जहां तक जाति और वर्ण का सम्बन्ध है, शास्त्रों में केवल यही नहीं कहा गया है कि हिन्दू किसी प्रश्न पर निर्णय लेने में तर्क का आधार नहीं ले सकता, बल्कि यह भी कहा गया है कि जाति और वर्ण व्यवस्था में उसके विश्वास के आधार की समीक्षा तार्किक ढंग से नहीं की जाएगी। अनेक गैर-हिन्दू लोगों के लिए यह मौन मनोरंजन का विषय साबित होगा, जब वे यह देखेंगे कि कुछ अवसरों जैसे रेल यात्रा तथा विदेश यात्रा में अनेक हिन्दू जाति का बंधन तोड़ देते हैं, लेकिन फिर भी वे अपने शेष जीवन में जाति व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास करते रहते हैं। यदि इस घटना की व्याख्या की जाए तो ज्ञात होगा कि हिन्दुओं की तर्क शक्ति पर एक और नियंत्रण है। मनुष्य का जीवन सामान्यत: आभ्यासिक तथा अचिंतनशील होता है। किसी धर्म, विश्वास या ज्ञान के कल्पित रूप के सम्बन्ध में सक्रिय, संगत एवं श्रमसाध्य विचार की दृष्टि से (उसके समर्थक आधार तथा सम्भावित निष्कर्षों के परिप्रेक्ष्य में) चिंतनशील विचार यदा-कदा और केवल धर्मसंकट में किया जाता है। किसी हिन्दू के जीवन में रेल यात्राएं और विदेश यात्राएं वास्तव में ऐसे ही धर्मसंकट होते हैं। ऐसे अवसरों पर किसी हिन्दू से यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह अपने आपसे यह पूछे कि जब वह सदैव जाति व्यवस्था का पालन नहीं कर सकता तो वह जाति-व्यवस्था को मानता ही क्यों है। लेकिन वह यह प्रश्न अपने आपसे नहीं करता है। वह एक कदम पर जातपांत को तोड़ देता है और दूसरे कदम पर कोई प्रश्न उठाए बिना उसका पालन करने लगता है। ऐसा आश्चर्यजनक आचरण करने का कारण शास्त्रों के नियम में मिलेगा जो उसे यह निर्देश देता है कि उसे यथासम्भव जाति-व्यवस्था का पालन करना चाहिए और पालन न करने की स्थिति में उसे प्रायश्चित करना चाहिए। प्रायश्चित के इस सिद्धान्त के अनुसार शास्त्रों ने समझौते वाली भावना का पालन करते हुए जाति-व्यवस्था को हमेशा के लिए जीवनदान दे दिया और चिंतनशील विचारों की अभिव्यक्ति को दबा दिया, क्योंकि ऐसा न करने पर जाति व्यवस्था की धारणा नष्ट हो सकती थी।

ऐसे अनेक समाज सुधारक हुए हैं, जिन्होंने जातिप्रथा तथा अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए कार्य किया है। उनमें रामानुज, कबीर आदि प्रमुख हैं। क्या

आप इन समाज सुधारकों के कार्यों का समर्थन कर सकते हैं और हिन्दुओं को उपदेश दे सकते हैं कि वे उनका पालन करें? यह सच है कि मनु ने श्रुति और स्मृति के साथ अनुशासित के रूप में सदाचार को भी शामिल कर दिया है। वास्तव में सदाचार को शास्त्रों के अपेक्षाकृत उच्च स्थान प्रदान किया गया है :

यद्यद्दाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धिकीर्तितम् ॥

सदाचार-भले ही शास्त्रों के अनुसार धर्म्य या अधर्म्य हो या शास्त्रों के प्रतिकूल हो, लेकिन उसका पालन करना होगा। सदाचार का अर्थ क्या है? यदि कोई व्यक्ति यह मानता है कि सदाचार का अर्थ किसी भले या धार्मिक व्यक्ति के उचित या नेक कार्यों से है तो यह उसकी सबसे बड़ी गलती होगी। सदाचार का अर्थ नेक कार्यों या नेक व्यक्ति के कार्यों से नहीं है। इसका अर्थ अच्छी या बुरी-प्राचीन प्रथा से है। यह बात निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट की गई है :

यस्मिन् देशे य आचार : पारंपर्यक्रमागत: ।
वर्णानां किल सर्वेषां स सदाचार उच्यते ॥

लोगों को इस विचार के विरुद्ध चेतावनी देने के लिए कि सदाचार का अर्थ नेक कार्यों या नेक व्यक्ति के कार्यों से नहीं है और इस बात की आशंका करते हुए कि लोग इसका अर्थ वैसा ही समझ सकते हैं और नेक व्यक्तियों के कार्यों का अनुसरण कर सकते हैं, स्मृतियों में हिन्दुओं को स्पष्ट आज्ञा दी गई है कि वह नेक कार्यों के लिए देवताओं का भी अनुसरण न करें, यदि वे श्रुति, स्मृति और सदाचार के प्रतिकूल है। इसे आप चाहे असाधारण या अत्यन्त विकृत विचार कह सकते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि 'न देव चरितं चरेत्' एक निषेधाज्ञा है, जो हिन्दुओं को उनके शास्त्रों द्वारा दी गई है।

किसी भी सुधारक के शास्त्रागार में तर्क और नैतिकता—दो ही शक्तिशाली हथियार होते हैं। यदि उससे ये दोनों हथियार छीन लिए जाएं तो वह कार्य करने में अशक्त हो जाएगा। आप जाति-व्यवस्था को कैसे समाप्त कर पायेंगे, जब लोगों को यह सोचने की स्वतन्त्रता नहीं है कि क्या यह नैतिकता के अनुकूल है? जाति-व्यवस्था के चारों तरफ बनाई गई दीवार अभेद्य है और जिस सामग्री से इसका निर्माण किया गया है, उसमें तर्क और नैतिकता जैसी कोई ज्वलनशील वस्तु नहीं है। इसी दीवार के पीछे ब्राह्मणों की फौज खड़ी है—उन ब्राह्मणों की जो एक बुद्धिजीवी वर्ग है, उन ब्राह्मणों की जो हिन्दुओं के प्राकृतिक नेता हैं, उन ब्राह्मणों की

जो वहां मात्र भाड़े के सैनिकों के रूप में नहीं हैं, बल्कि अपने देश के लिए लड़ती हुई सेना के रूप में हैं। अब आप समझ गए होंगे कि मैं ऐसा क्यों सोचता हूं कि हिन्दुओं की जातिप्रथा को समाप्त करना प्राय: असम्भव है। बहरहाल, इसे समाप्त करने से पहले कई युग बीत जाएंगे। चाहे कार्य करने में समय लगता है या चाहे उसे तुरन्त किया जा सकता है, लेकिन आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आप जातिप्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा, क्योंकि वेद और शास्त्र किसी भी तर्क से अलग हटाते हैं और वेद तथा शास्त्र किसी भी नैतिकता से वंचित करते हैं। आपको 'श्रुति' और 'स्मृति' के धर्म को नष्ट करना ही चाहिए। इसके अलावा और कोई चारा नहीं है। यही मेरा सोचा-विचारा हुआ विचार है।

(17)

हिन्दू धर्म, धर्म नहीं, कानून है

हिन्दू जिसे धर्म कहते हैं, वह और कुछ भी नहीं केवल आदेशों तथा निषेधाज्ञों का पुलिंदा है। आध्यात्मिक सिद्धांतों के रूप में धर्म यथार्थ में सार्वभौमिक होता है, जो सारी प्रजातियों और देशों पर हर काल में समान रूप से लागू होता है। ये तत्व हिन्दू धर्म में विद्यमान नहीं हैं और यदि हैं तो भी ये हिन्दू के जीवन को संचालित नहीं करते। हिन्दू के लिए 'धर्म' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से आदेशों और निषेधाज्ञों से है और धर्म शब्द वेदों और स्मृतियों में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा ऐसा ही टीकाकारों द्वारा समझा गया है। वेदों में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का तात्पर्य धार्मिक अध्यादेशों या अनुष्ठानों से है। यहां तक कि जेमिनी ने अपनी 'पूर्व मीमांसा' में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है, ''एक इच्छित लक्ष्य या परिणाम जो आदेशार्थ हैं, जिसे वैदिक परिच्छेदों में बताया गया है।'' सरल और सीधी भाषा में कहा जाए तो हिन्दू 'धर्म' को कानून या अधिक से अधिक कानूनी वर्ग-नीति मानते हैं। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो मैं इस अध्यादेशीय संहिता को 'धर्म' मानने से इन्कार करता हूं। गलत रूप से धर्म कही जाने वाली इस अध्यादेशीय संहिता के प्रति निष्ठा नहीं है, केवल आदेशों का पालन ही आवश्यक है। इस अध्यादेशीय संहिता की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इसमें वर्णित कानून कल, आज और हमेशा के लिए एक ही हैं। ये कानून असमान हैं तथा सभी वर्गों पर समान रूप से लागू नहीं होते। इस असमानता को चिरस्थायी बना दिया गया है क्योंकि इसे सभी पीढ़ियों के लिए एक ही प्रकार से लागू किया गया है। आपत्तिजनक बात यह नहीं है कि इस संहिता को किसी

पैगम्बर या कानूनदाता कहे जाने वाले महान व्यक्ति ने बनाया है। आपत्तिजनक बात यह है कि इस संहिता को अंतिमता व स्थिरता प्रदान की गई है। मन की प्रसन्नता किसी व्यक्ति की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। मन की प्रसन्नता अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग काल में भी बदलती रहती है। इस स्थिति में मानवता कब तक शिकंजे में जकड़े और अपंग बने रहकर इस बाहरी कानून की संहिता को सहन कर सकती है ? इसलिये यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं है कि ऐसे धर्म को नष्ट किया जाना चाहिए तथा ऐसे धर्म को नष्ट करने का कार्य अधर्म नहीं कहलाएगा। वास्तव में, मैं कहता हूं कि आपका परम कर्तव्य यह है कि आप इस मुखौटे को उतार दो जो गलत रूप से कानून को धर्म बताता है। आपके लिए यह एक आवश्यक कार्य है। एक बार आप लोगों को साफ साफ बता देते हैं कि यह धर्म, धर्म नहीं है, यह वस्तुतः एक कानून है। तब आप यह कहने की स्थिति में होंगे कि इसमें संशोधन किया जाए या इसे समाप्त किया जाए। जब तक लोग इसे धर्म मानते रहेंगे, तब तक वे इसमें संशोधन के लिए तैयार नहीं होंगे, क्योंकि यदि आमतौर पर कहा जाए तो धर्म को बदल डालने का विचार मान्य नहीं होता है। लेकिन कानून की धारणा बदलाव की धारणा से जुड़ी होती है और जब आप समझ जाते हैं कि यह धर्म एक पुराना तथा पुरातत्वीय है, तब तो इसे बदलने के लिए तैयार हो जाएंगे क्योंकि लोग जानते हैं कि कानून बदला जा सकता है।

(18)

शास्त्रों की सत्ता को हटाओ

आपको अपने धर्म को एक नया सैद्धान्तिक आधार देना होगा, जो स्वतन्त्रता, समानता और भाई-चारे के, संक्षेप में, प्रजातंत्र के अनुरूप हो। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य और चीजों के प्रति दृष्टिकोण तथा रवैऐ में पूरा बदलाव लाया जाए। इसका अर्थ है 'धर्म-परिवर्तन' परन्तु यदि आप इस शब्द को पसंद नहीं करते तो मैं कहूंगा इसका अर्थ है—नया जीवन। लेकिन एक नया जीवन मृत शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। नया जीवन केवल नए शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। इससे पहले कि नया शरीर अस्तित्व में आए और उसमें नया जीवन प्रवेश कर सके, पुराने शरीर को हर हालत में मरना चाहिए। साधारण शब्दों में, इससे पहले कि नया जीवन डाला जाए और उसमें स्पंदन हो, पुराने ढर्रे को समाप्त होना चाहिए। यही मेरे कहने का अर्थ है, जब मैंने कहा था कि शास्त्रों की सत्ता को हटाओ और शास्त्रों का धर्म नष्ट कर दो।

इसमें संदेह नहीं है कि जातपात हिन्दुओं की धड़कन है पर हिन्दुओं ने वातावरण को प्रदूषित किया है, जिससे प्रत्येक संक्रमित है, जिसमें सिख, मुस्लिम और ईसाई भी शामिल हैं। आप सिख, मुस्लिम और ईसाई सहित उन सबसे समर्थन के पात्र हैं, जो इस संक्रमण से ग्रसित हैं। आपका राष्ट्रीय आंदोलन अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों से कठिन है, जैसे कि स्वराज। स्वराज के लिए संघर्ष में सारा राष्ट्र आपके साथ संघर्ष करता है। लेकिन आपके आंदोलन में आपको अपने ही राष्ट्र के साथ लड़ना पड़ता है। लेकिन यह आंदोलन स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण है। स्वराज का कोई मतलब नहीं रह जाएगा, अगर आप इसकी रक्षा न कर पाए। स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न स्वराज के अंतर्गत हिन्दुओं को बचाना है। मेरे विचार से हिन्दू समाज जब एक जातिहीन समाज बन जाएगा, तभी इसके पास स्वयं को बचाने के लिए काफी शक्ति होगी। इस आंतरिक ताकत के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज, गुलामी की ओर केवल एक कदम होगा। अलविदा तथा आपकी सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं।

राहुल सांकृत्यायन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिंदी नहीं अपितु भारतीय वांगमय के अप्रतिम विभूति हैं। वे साहित्यकार होने के साथ-साथ बहु-भाषाविद्, इतिहासकार, दार्शनिक यायावर स्वतंत्रता सेनानी और धर्म एवं समाज के तत्वों के मर्मज्ञ थे। उनके 50 हजार पृष्ठों के विपुल साहित्य में उनका बहुआयामी व्यक्तित्व स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। परन्तु राहुल जी के चिंतन का केंद्र बिन्दु था मानव मात्र की आजादी एवं समतामूलक समाज की स्थापना। आज के सामाजिक ढांचे के विषय में राहुल जी ने लिखा है - ''जब तक यह ढांचा तोड़कर नया ढांचा नहीं बनाया जाता, दुनिया नरक बनी रहेगी।'' भारतीय समाज का विश्लेषण करते हुए राहुल जी ने इस समाज की ऐसी 6 बातें गिनाईं जिनका क्षय होना समतामूलक समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है। इसमें वर्तमान समाज, धर्म, सदाचार, भगवान, जात-पात और शोषकों का क्षय होना गिनाया। राहुल जी ने अपने लेखन में हमेशा ही करारा प्रहार किया जिसके उद्धरण 'भागो नहीं दुनिया को बदलो', 'घुम्मकड़ शास्त्र', 'दिमागी गुलामी', 'जीवन यात्रा', इत्यादि पुस्तकों में देखे जा सकते हैं। 'बाइसवीं सदी', नामक पुस्तक में उन्होंने वर्ण व्यवस्था के अंत की आशा जताई है। -अजेय कुमार

तुम्हारी जात-पाँत की क्षय

हमारे देश को जिन बातों पर अभिमान है, उनमें जात-पाँत भी एक है। दूसरे मुल्कों में जात-पाँत का भेद समझा जाता है भाषा के भेद से, रंग के भेद से। हमारे यहाँ एक ही भाषा बोलने वाले, एक ही रंग के आदमियों की भिन्न-भिन्न जातें होती हैं। यह अनोखा जाति-भेद हिन्दुस्तान की सरहद के बाहर होते ही नहीं दिखलाई पड़ता। और इस हिन्दुस्तानी जाति-भेद का मतलब?—धर्म और आचार पर पूरा जोर देने वाले भिन्न जाति वालों के साथ खाना नहीं खा सकते, उनके हाथ का पानी तक नहीं पी सकते, शादी का सवाल तो बहुत दूर का है। मुसलमान और ईसाई तक भी इस छूत की बीमारी से नहीं बच सके हैं—कम-से-कम ब्याह-शादी में। अछूतों का सवाल, जो इसी जाति-भेद का सबसे उग्र रूप है हमारे यहाँ सबसे भयंकर सवाल है। कितने लोग शरीर छू जाने से स्नान करना जरूरी समझते हैं। कितनी ही जगहों पर अछूतों को सड़कों से होकर जाने का अधिकार नहीं है। हिन्दुओं की धर्म-पुस्तकें इस अन्याय के आध्यात्मिक और दार्शनिक कारण पेश करती हैं।

गांधीजी अछूतपन को हटाना चाहते हैं, लेकिन शास्त्र और वेद की दुहाई भी साथ ले चलना चाहते हैं। यह तो कीचड़ से कीचड़ धोना है।

अछूतपन को समझना दूसरे मुल्क के लोगों के लिए कितना कठिन है। इसका मैं उदाहरण देता हूँ। 1922 में ब्रिटिश गवर्नमेंट ने जब अपना साम्प्रदायिक निर्णय दिया और गांधीजी ने उस पर आमरण अनशन शुरू किया, उस समय मैं लन्दन में था। बहुत दिनों के बाद यह सनसनीखेज खबर भारत के सम्बन्ध में इंग्लैंड के पत्रों में छपी। उन्होंने मोटी-मोटी सुर्खियाँ देकर इसे छापा। जिन देशों में अस्पृश्यता नहीं है, वहाँ के लोग इस बारे में क्या जानें? लन्दन यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले एक चीनी छात्र हमारे पास आये और उन्होंने पूछा—''अस्पृश्यता क्या है?'' मैंने कुछ समझाना चाहा। उन्होंने पूछा—''क्या कोई छूत की बीमारी होती है या कोढ़ की तरह का कोई कारण होता है जिससे कि लोग आदमी को छूना नहीं चाहते?'' मैंने कहा कि आदमी स्वस्थ और तन्दुरुस्त हमारी ही तरह होते हैं, हाँ अधिकांश की आर्थिक दशा हीन जरूर होती है। मैं आधे घंटे से अधिक अस्पृश्यता के बारे में समझाने की कोशिश करता रहा, लेकिन देखा कि मेरे दोस्त के पल्ले कुछ पड़ नहीं रहा है। तब मैंने अमेरिका के नीग्रो लोगों का उदाहरण देकर समझाना शुरू किया। अब यद्यपि मैं थोड़ा-बहुत समझाने में सफल हुआ, लेकिन तब भी वह उनकी समझ में नहीं आया कि एक ही रंग और रूप के आदमियों में अस्पृश्यता कैसी?

पिछले हजार बरस के अपने राजनीतिक इतिहास को यदि हम लें तो मालूम होगा कि हिन्दुस्तानी लोग विदेशियों से जो पद्दलित हुए, उसका प्रधान कारण जाति-भेद था। जाति-भेद न केवल लोगों को टुकड़े-टुकड़े में बाँट देता है, बल्कि साथ ही यह सबके मन में ऊँच-नीच का भाव पैदा करता है। ब्राह्मण समझता है हम बड़े हैं, राजपूत छोटे हैं। राजपूत समझता है हम बड़े हैं, कहार छोटे हैं। कहार समझता है हम बड़े हैं, चमार छोटे हैं। चमार समझता है हम बड़े हैं, मेहतर छोटे हैं। और मेहतर भी अपने मन को समझाने के लिए किसी को छोटा कह ही लेता है। हिन्दुस्तान में हजारों जातियाँ हैं और सबमें यह भाव है। राजपूत होने से ही यह न समझिए कि सब बराबर हैं। उनके भीतर भी हजारों जातियाँ हैं। उन्होंने कुलीन कन्या से ब्याह कर अपनी जात ऊँची साबित करने के लिए आपस में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी हैं और देश की सैनिक शक्ति का बहुत भारी अपव्यय किया है। आल्हा-ऊदल की लड़ाइयाँ इस विषय में मशहूर हैं।

इस जाति-भेद के कारण देश-रक्षा का भार सिर्फ एक जाति के ऊपर रख दिया गया था। जहाँ देश की स्वतन्त्रता के लिए सारे देश को कुर्बानी के लिए तैयार

रहना चाहिए, वहाँ एक जाति के कंधे पर सारी जिम्मेदारी दे देना बड़ी खतरनाक बात थी। राजपूत जाति ने जहाँ तक सैनिक उत्साह का सम्बन्ध है, अपने को अयोग्य नहीं साबित किया, तो भी सिर्फ देश-रक्षा की बात नहीं रह गई, वहाँ तो उसके साथ-साथ राजशक्ति का प्रलोभन भी उनमें बहुत बड़ा था और इसी के लिए आपस में वे बराबर लड़ने लगे। उनके सामने मुख्य बात थी खास-खास राजवंशों की रक्षा करना। राजवंशों के पारस्परिक वैमनस्य—जो कि राजशक्ति को हथियाने के कारण ही था—उन्होंने राष्ट्रीय सैनिक-शक्ति को अनेकों टुकड़ों में बाँट दिया और वे एकसाथ होकर विदेशियों से न लड़ सके। यदि जात-पाँत न होती तो और मुल्कों की तरह सारे हिन्दुस्तानी देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते। जातीय एकता के कारण छोटे-छोटे मुल्क बहुत पीछे तक अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में समर्थ हुए। इतना भारी देश हिन्दुस्तान जबकि बारहवीं शताब्दी में ही परतन्त्र हो गया, लंका (सीलोन) का छोटा टापू जिसकी आबादी अब भी पचास लाख के करीब है—1814 तक परतन्त्र न हुआ था। बर्मा तो उससे साठ-बरस और पीछे तक आजाद रहा है। हिन्दुस्तान के पड़ोस के इतने छोटे-छोटे मुल्क इतने दिनों तक अपनी स्वतंत्रता को क्यों कायम रख सके, और आज भी अफगानिस्तान जैसे देश क्यों आजाद हैं। इसलिए कि वहाँ जाति इतने टुकड़ों में विभक्त नहीं है। वहाँ ऊँच-नीच का भाव इतना नहीं फैला है और देश के सभी निवासी अपनी स्वतंत्रता के लिए क्षत्रिय बनकर कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ सकते हैं।

हिन्दुस्तान के इतिहास में कई बार ऐसा समय आया जबकि देश की स्वतन्त्रता फिर लौटी आ रही थी। लेकिन हमारी पुरानी आदतों ने वैसा होने नहीं दिया। शेरशाह के वंश के राजमंत्री बहादुर हेमचन्द्र ने एक बार चाहा क्या, दिल्ली के तख्त पर बैठ भी गया, लेकिन राजपूतों ने बनिया कहकर उसका विरोध किया। दूरदर्शी सम्राट अकबर ने सारे भारत को एक जाति में लाने का स्वप्न देखा, लेकिन उसका वह स्वप्न, स्वप्न ही रह गया। और उसके बाद के हिन्दू मुसलमानों ने कभी उस जातीय एकता के ख्याल को फूटी आँखों देखना पसन्द नहीं किया। अंग्रेजों के हाथ में जाने से पहले भारत में सबसे बड़ा साम्राज्य मराठों का था, लेकिन वह भी ब्राह्मण-अब्राह्मण के झगड़ों के कारण चूर-चूर हो गया। हमारे पराभव का सारा इतिहास बतलाता है कि हम इसी जाति भेद के कारण इस अवस्था तक पहुँचे।

आधी शताब्दी से अधिक बीत गई जब से कांग्रेस ने जातीय एकता कायम करने का बीड़ा उठाया। जो कुछ थोड़ी-बहुत एकता कायम करने में वह सफल हुई है, उसका फल भी हम देख रहे हैं और दो प्रान्तों को छोड़कर बाकी सभी प्रान्तों के

शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में है। (सिन्ध की सरकार भी कांग्रेस के प्रभाव को मानती है)। लेकिन कांग्रेस के नेताओं के मनोभाव को हम क्या देख रहे हैं? कांग्रेस के बड़े-बड़े हिन्दू जहाँ एक तरफ जातीय एकता के शोर से जमीन-आसमान एक करते रहते हैं, वहाँ दूसरी तरफ ''भारतीय संस्कृति'' और हिन्दू-धर्म के प्रेम में किसी से एक इंच भी कम नहीं रहना चाहते। और इसी कारण वे अपने-अपने छोटे से जातीय दायरे से जरा भी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं रखते। कायस्थ कांग्रेस नेता कायस्थ जाति की एकता और उसके अगुवापन की परवाह बहुत ज्यादा रखते हैं। जब उनका ब्याह-शादी या जन्म-मरण अपनी ही जाति के भीतर होने वाला है तो उनकी तो दुनिया ही कायस्थों के भीतर है। कायस्थ रिश्तेदार के—चाहे वह योग्य हो या अयोग्य, उसके और उसके परिवार के लिए कोई जीविका का प्रबन्ध करना तो जरूरी है—कोई नौकरी दिलानी ही होगी और ऐसे जाति भक्ति के काम के लिए भी अन्याय, अन्याय नहीं, पाप, पाप नहीं। भूमिहार कांग्रेस-नेता है। जब तक भूमिहार जाति से अलग उसका नाता-रिश्ता नहीं, तब तक वह कैसे भूमिहार से बाहर की दुनिया को अपनी दुनिया समझेगा? हमारे नेताओं में जातीयता के ये भाव कितने जबर्दस्त हैं, यह सभी जानते हैं। इस भाव के कारण हमारा सार्वजनिक जीवन बहुत गन्दा हो गया है और राष्ट्रीय शक्ति सबल नहीं होने पाती। राजनीतिक दल तो पहले से ही है, इसमें जातीय दलबन्दी अवस्था को और भी भयंकर बना देती है। यह जाति-भेद सिर्फ हिंदुओं के ही राजनीतिक नेताओं में नहीं, बल्कि मुसलमान और दूसरे भी इससे बचे नहीं हैं। मुसलमानों के ऊँची जाति के स्वार्थ और अदूरदर्शिता के कारण वहाँ भी मोमिन और गैर-मोमिन का सवाल छिड़ गया है, यद्यपि मुस्लिम नवाबों और सेठ-साहूकारों की बराबर कोशिश हो रही है कि बाजा और गोकशी का सवाल रखकर निम्न श्रेणी के लोगों को उस प्रश्न से अलग रक्खा जाय। लेकिन निश्चय ही इसमें असफलता होगी। राष्ट्रीय नेता की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए। उनका अध्ययन और अनुभव विस्तृत होता है, और इस प्रकार वह भविष्य पर दूर तक सोच सकता है। लेकिन, उसकी यह शोचनीय मनोवृत्ति है। बिहार प्रान्त के कांग्रेस नेताओं और मिनिस्टरों के इस जात-पाँत के भाव ने बड़ा ही घृणित रूप धारण कर लिया है। मिनिस्टर अपनी जाति के मेम्बरों की ठोस जमात अपने पीछे रखकर उसी दृष्टि से काम करते हैं, और, अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि यदि दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं हुआ तो सार्वजनिक जीवन की गन्दगी पराकाष्ठा को पहुँच जायेगी।

ये सारी गन्दगियाँ उन्हीं लोगों की तरफ से फैलाई गई हैं जो धनी हैं या धनी

होना चाहते हैं। सबके पीछे ख्याल है धन को बटोर कर रख देने या उसकी रक्षा का। गरीबों और अपनी मेहनत की कमाई खाने वालों को ही सबसे ज्यादा नुकसान है, लेकिन सहस्त्राब्दियों से जात-पाँत के प्रति जनता के अन्दर जो ख्याल पैदा किये गये हैं, वे उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति की ओर नजर दौड़ाने नहीं देते। स्वार्थी नेता खुद इसमें सबसे बड़े बाधक हैं।

संसार की रविश हमें बतला रही है कि हम अधिक दिनों तक इस जातीय भेदभाव को कायम नहीं रख सकते। दुनिया की चाल को देखकर अब हिन्दुस्तान के अछूत, अछूत रहने को तैयार नहीं हैं—अर्जल (निम्न जाति) अर्जल रहने को तैयार नहीं है। अछूत और अर्जल रखकर सिर्फ उनके साथ अपमानपूर्ण बर्ताव ही नहीं किया जाता, बल्कि आर्थिक स्वतन्त्रता से भी उन्हें वंचित किया जाता है। फिर वे कब समाज में सहस्त्राब्दियों से पहले निर्धारित किये स्थान पर रहना पसन्द करेंगे और आजादी के दीवाने तो इस प्रथा के विरुद्ध जेहाद बोल चुके हैं। वे इसके लिए सब तरह की कुर्बानियाँ करने को तैयार हैं। उनके लिए राजनीतिक युद्ध से यह सामाजिक युद्ध कम महत्व नहीं रखता है। वे जानते हैं कि जब तक जातियों की खाइयाँ बन्द न की जायेंगी, तब तक जातीय एकता की ठोस नींव रखी नहीं जा सकती। वे जानते हैं कि इस बात में मजहब उनका सबसे बड़ा बाधक है, लेकिन वे मजहब की परवाह कब करने वाले हैं। वे जात-पाँत के साथ हिन्दू धर्म को एक ही डंडे से मारकर समुद्र में डुबायेंगे।

देखने में जात-पाँत की इमारत मजबूत मालूम होती है, लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि उसकी नींव पर करारी चोट नहीं लग रही है। जातीय भेद के दो रूप हैं—एक, रोटी में छूत-छात, दूसरे, बेटी में असहयोग। रोटी में छूत-छात की बात उन्हीं धनिकों ने सबसे पहले तोड़नी शुरू की जो अपने स्वार्थ को अक्षुण्ण रखने के लिए जातीय संगठनों और जातीय एकताओं के सबसे बड़े पोषक थे। धन उनके पास था और विलायत जाने के लिए सबसे पहले वे ही तैयार हुए। जहाँ पहले विलायत जाने वाले जात से बहिष्कृत किये जाते थे, वहाँ आज वे ही जात के चौधरी हैं। दरभंगा बीकानेर को ही नहीं, दूसरी जातियों के अगुवों को भी देख लीजिए। सभी जगह विलायत में सब तरह के लोगों के साथ, सब तरह का खाना खाकर लौटे हुए लोग ही आज नेता के पद पर शोभित हैं। आई०सी०एस० दामाद पाने वाला ससुर अपने को निहाल समझता है।

पिछले बीस बरसों में रोटी की एकता बड़ी तेजी के साथ कायम हो रही है। 1921 से पहले हिन्दू होटल शायद ही कहीं दिखलाई पड़ते थे। लेकिन आज छोटे-

छोटे शहरों में ही चार-चार, छै-छै दर्जन होटल नहीं हैं, बल्कि छोटे-छोटे स्टेशनों पर खुल गये हैं। कुछ साल पहले तक किसको पता था कि छपरा स्टेशन के प्लेटफार्म पर हिन्दू खोमचा वाला गोश्त-पराठे बेचता फिरेगा। मेरे एक दोस्त एक दिन पटने में किसी होटल में भोजन करने गये। उनकी क्यारी की बगल में एक लड़का बैठा था और उसकी बगल में एक तिरहुतिये ब्राह्मण चन्दन-टीका लगाकर बैठे थे। क्यारी छोटी थी और लड़के का हाथ ब्राह्मण देवता के शरीर से छू गया। वह उस पर आग बबूला हो गये, डाँटकर जात पूछने लगे। हमारे साथी ने लड़के को चुपके से समझा दिया—कह दो रैदास भगत (चमार)। लड़के ने जब ऐसा कहा तो ब्राह्मण का कौर मुँह का मुँह में ही रह गया। वह अभी बोलने को कुछ सोच ही रहे थे कि आसपास के लोग उन पर बिगड़ उठे—यह होटल है, यहाँ दाल-भात की बिक्री होती है। तुमने जात-पाँत क्यों पूछी ? ब्राह्मण देवता को लेने के देने पड़ गये। यदि खाना छोड़कर जाते हैं, तो यही नहीं कि पैसे दण्ड पड़ेंगे, बल्कि सब लोगों को खुल कर हँसी उड़ाने का मौका मिलेगा। इसलिए बेचारे ने सिर नीचा करके चुपचाप भोजन कर लिया।

रोटी की छूत का सवाल हल-सा हो चुका है। शिक्षित तरुण इसमें हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव नहीं रखना चाहते। लेकिन बेटी का सवाल अब भी मुश्किल मालूम पड़ता है। एक दिन रेल में सफर करते मुझे एक मुसलमान नेता मिले। वह समाजवादियों के नाम से हद से ज्यादा घबराये हुए थे। बोले "समाजवादी, खैर, लोगों की गरीबी दूर करना चाहते हैं, इस्लाम भी मसावात् (समानता) क प्रचारक है, लेकिन वे मजहब के खिलाफ क्यों हैं ?"

मैं—"साम्यवादी मजहब के खिलाफ अपनी शक्ति का तिल भर भी खर्च करना नहीं चाहते। वे तो चाहते हैं कि दुनिया में सामाजिक अन्याय और गरीबी न रहने पाये।"

मौलाना—"इसमें हम भी आपके साथ हैं।"

मैं—"आप भी साथ हैं ? क्या आप सारे हिन्दुस्तानियों की रोटी-बेटी एक कराने के लिए तैयार हैं ?"

मौलना—"इसकी क्या जरूरत है ?"

मैं—"क्योंकि गरीब तब तक आजादी हासिल नहीं कर सकते, जब तक अपनी कमाई स्वयं खाने का हम हक पा नहीं सकते, जब तक कि वे एक होकर अपने चूसने वालों के—चाहे वे देशी हों या विदेशी—का मुकाबला करके उन्हें परास्त नहीं करते।"

मौलाना—''रोटी तक तो हम आपके साथ हैं, लेकिन बेटी में नहीं।''

पास ही एक पण्डितजी बैठे हुए थे जो बातचीत से वकील मालूम होते थे। वह झट बोल उठे—''आप लोग तो दूसरे मुल्कों के साँचे में हिन्दुस्तान को भी ढालना चाहते हैं। आप लोग यह सोचने की तकलीफ गवारा नहीं करते कि हिन्दुस्तान धर्म-प्राण मुल्क है, इसकी सभ्यता और संस्कृति निराली है। भारत यूरोप नहीं हो सकता। रोटी की तो बात, खैर, एक होती देखी जा रही है, लेकिन बेटी एक होने की बात कह कर तो आप शेखचिल्ली को भी मात करते हैं।''

मैं—''कुछ बरसों पहले रोटी की एकता भी शेखचिल्ली की ही बात थी। खैर, आज आप उसे तो कबूल करते हैं न? बेटी की भी बात शेखचिल्ली की नहीं। बीस बरस पहले के चौके-चूल्हे को देखकर किसको आशा थी कि हमें आज का दिन देखना पड़ेगा? हिन्दू खुल्लम-खुल्ला मुसलमान और ईसाई के साथ खाना खाते हैं, लेकिन बिरादरी की मजाल है कि उनसे नाता-रिश्ता तोड़ें? हिन्दू-मुसलमान की शादियाँ होनी शुरू हो गई हैं। पंडित जवाहरलाल की भतीजी ने मुसलमान से शादी की है और बिना कलमा पढ़े। आसफ अली की बीवी अरुणा ने इस्लाम धर्म को स्वीकार नहीं किया। प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने भी इसी तरह की शादी बंगाल में की है। ऐसी मिसालें दर्जनों मिलेंगी जिनमें हिन्दू युवतियों ने बिना मजहब बदले शादियाँ की हैं। हिन्दू नवयुवक भी धर्म की जंजीर तोड़ कर शादी करने लग गये हैं। गोरखपुर के श्री श्यामाचरण शास्त्री ने बिना शुद्धि के मुसलमान लड़की से शादी की है। गुजरात के एक संभ्रान्त कुल के हिन्दू युवक ने एक प्रतिष्ठित मुसलमान-कुल की सुशिक्षिता लड़की से शादी की है। यह निश्चित है कि दिन-प्रतिदिन ऐसे ब्याहों की संख्या बढ़ती ही जायेगी। समाज के जबर्दस्त बाँध में जहाँ सुई भर का भी छेद हो गया, वहाँ फिर उसका कायम रहना मुश्किल है। ''

जात-पाँत तोड़कर एक धर्म के भीतर शादियाँ तो और ज्यादा हैं। लेकिन हमारे देश का दुर्भाग्य है कि जिस काम को अवश्य करना है, उसे भी लोग बहुत धीमी चाल से करना चाहते हैं। ठोस जातीय एकता हमारे लिए सबसे आवश्यक चीज है और वह मजहबों और जातों की चहारदीवारियों को ढहाकर ही कायम की जा सकती है। हमारी रविश जिस बात को अवश्यंभावी बतला रही है जिसे किये बिना हमारे लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं, उसके करने में इतनी ढिलाई दिखलाना क्या सरासर बेवकूफी नहीं है?

हिन्दुस्तानी जाति एक है। सारे हिन्दुस्तानी, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बौद्ध हों या ईसाई, मजहब के मानने वाले हों या न मानने वाले, उनकी एक जाति

है—हिन्दुस्तानी, भारतीय। हिन्दुस्तान से बाहर यूरोप और अमेरिका में ही नहीं, पड़ोस के ईरान और अफगानिस्तान में भी हम इसी—हिन्दी—नाम में पुकारे जाते हैं। हिन्दू सभा वाले अपने भीतर की जातियों को तोड़ने के लिए चाहे उतना उत्साह न भी दिखलाते हों, लेकिन वे मौके-बे-मौके यह घोषणा जरूर कर दिया करते हैं कि हिन्दू जाति अलग है। मुस्लिम लीग ने तो बीड़ा उठाया है कि मुसलमानों की हमेशा के लिए अलग जाति बनायी जाय। वह तो बल्कि इसी विचार के अनुसार हिन्दुस्तान को अलग हिस्सों में बाँटना चाहती है। नौ करोड़ मुसलमानों में सात करोड़ तो सीधे ही वह खून अपने शरीर में रखते हैं जो कि हिन्दुओं के बदन में है। और, बाकी दो करोड़ में कितने हैं जो कलेजे पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि उनमें चौथाई भी गैर-हिन्दुस्तानी खून है ? जाति का निर्णय खून से होता है। और, इस कसौटी से परखने पर दुनिया का कोई भी आदमी—हिन्दुस्तान से बाहर—हिन्दुस्तान के मुसलमानों को अलग कौम मानने को तैयार नहीं हो सकता। तीन चौथाई अरबी शब्द बोलकर हिन्दुस्तानी मुसलमान न अरब में जाकर हिन्दी छोड़कर दूसरा कहला सकता है और न अरबी जबान को वह अपनी मातृभाषा ही बना सकता है। हमारे नौजवान इस बँटवारे को अधिक दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर सकते। नई सन्तानों के लिए तो अच्छा होगा कि हिन्दुओं की औलाद अपने नाम मुसलमानी रक्खे, और मुसलमानों की औलाद अपने नाम हिन्दू रक्खे, साथ ही मजहबों की जबर्दस्त मुखालफत की जाय। सूरत-शकल के बनावटी भेद को भी मिटा दिया जाय। इस प्रकार मजहब के दीवानों को हम अच्छी तालीम दे सकते हैं।

निश्चय है कि जात-पाँत की क्षय करने से हमारे देश का भविष्य उज्जवल हो सकता है।

प्रेमचंद

प्रेमचंद ने भारत की अछूत समस्या का ज़िक्र 'विविध' प्रसंग में किया है जिसमें उन्होंने भारतीयता पर जोर देते हुए देश के नागरिकों का आह्वान किया है कि वे विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर समान अधिकारों के लिए लड़ें। वह समय राष्ट्रीय आंदोलन का था, प्रेमचंद उसी आंदोलन को मज़बूत करने के लिए शूद्रों को हिंदुओं से अलग कौम बनाने के पक्ष में नहीं थे। प्रेमचंद पीड़ितों के पक्षधर थे परन्तु वे गांधीवाद से बहुत प्रभावित थे। गांधी जी के दृष्टिकोण की सब सीमाएं हमें प्रेमचंद में भी दिखाई देती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कतई नहीं कि उनकी किताबों को जलाया जाए। बल्कि आज ज़रूरत इस बात की है कि प्रेमचंद का पुर्नपाठ हो। प्रेमचंद का विपुल साहित्य मजदूरों और किसानों के पक्ष में खड़ा है और मेरा यह मानना है कि आज की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चुनौतियों से रू-ब-रू होने में वह हमें मदद पहुंचाता है- अजेय कुमार

जाति-प्रथा पर विचार

हमारा कर्तव्य

यह युग, प्रकाश का युग है। इसमें अब अंधकार नहीं रह सकता। वह दिन अब नहीं रहे, जब धर्म के नाम पर लोग काशीकरवत लिया करते थे। अब विवश होकर युग-धर्म के अनुसार ही चलना पड़ेगा। अछूत इसीलिए तो अछूत हैं कि वे जन-समाज के स्वास्थ्य के लिए उनके घरों की सफाई करते हैं, उनकी सेवा करते हैं। उनमें और अछूतों में क्या अंतर है ? जैसे वे मनुष्य हैं, अछूत भी हैं। यदि अछूत उनके घर का मल-मूत्र साफ़ करते हैं, तो वे भी तो इस कार्य से वंचित नहीं हैं। वे भी तो रोज सुबह सबसे पहले यही काम करते हैं। बाल-बच्चों के घर में प्रायः सभी वर्ग की स्त्रियों को यह कर्म करना पड़ता है। रोग-काल में भी मल-मूत्र उठाने का काम प्रायः घर के ही लोग करते हैं। उस समय कोई मेहतर घर में से मैला उठाने नहीं आता। फिर क्यों इस दुर्विचार का पोषण किया जाता है, क्यों अपने ही हाथों अपने पैरों को काटने की कोशिश की जाती है ? क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से

उचित प्रतीत होती है ? नहीं, कोई भी यह नहीं कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठंडा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़ कर रहे हैं, वह असल में डायनमाइट है, जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा। इसे दूर फेंक देना चाहिए, वर्ना फिर पश्चाताप का भी समय न मिलेगा। स्वार्थ त्याग को हिंदू-धर्म में एक यज्ञ कहा गया है।

ऐसे समय में देश के उदारचेता, बुद्धिमान युवक समाज को अधीर नहीं हो जाना चाहिए, क्रोध में नहीं भर जाना चाहिए। ऐसे समय महात्माजी का सत्याग्रह-मंत्र ही एक उपाय है। क्रोध में तो हिंसा और उसका परिणाम सर्वदा हानिकर है। ऐसे समय देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पहले अपने आप के हृदय से ऊँच-नीच और छुआछूत के भावों को विनष्ट कर दे।

29 सितम्बर 1932

क्या अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है ?

क्या मंदिरों के पुजारियों और मठों के महंतों से हिन्दू जाति बनी हुई है ? पूजा करनेवाले भी रहेंगे, या पूजा करानेवाले ही मंदिरों को स्थायी रखेंगे ?

एक वह जातियाँ हैं, जो दूसरों को अपने में मिलाकर फूली नहीं समातीं। आज एक चमार मुसलमान हो जाए, सारा मुस्लिम समाज उसका स्वागत करेगा, लेकिन यह मेमोरियलबाज़ लोग, जो हिंदू जाति का रक्षक होने का दावा करते हैं, यह भी नहीं सह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओं के दर्शन कर सके। अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दल-बल के साथ जायेंगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खायेंगे-हाँ, अछूत ने उसे छुआ न हो- दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जायेंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाय। हिन्दू उसी को अपना देवता समझ सकता है। पतितों का उद्धार करनेवाले ठाकुर ही हमारे ठाकुर हैं, जो पतितों के दर्शन-मात्र से पतित हो जायँ, ऐसे ठाकुर को हमारा दूर ही से नमस्कार है।

कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गंदी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि। क्या जितने सछूत हैं, वे रोज स्नान करते हैं, क्या काश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज़ नहाते हैं ? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में, महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। यह इसी अन्याय का प्रायश्चित है कि संसार के अन्य देशों में हिंदू मात्र को अछूत समझा जाता है। फिर शराब क्या ब्राह्मण नहीं पीते ? इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण- और वह भी तिलकधारी - निकल आयेंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के घरों में चमारियाँ हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान् हो, वह मन्दिर में नहीं जा सकता। क्या इसी नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है ? इस नीति के कुफल हम देख चुके, अब सावधान हो जाना चाहिए।

हमारी समझ में नहीं आता हम किस मुंह से यह दावा कर सकते हैं कि हम पवित्र और अमुक अपवित्र है। किसी ब्राह्मण महाजन के पास उसी का भाई ब्राह्मण असामी क़र्ज़ मांगने जाता है, ब्राह्मण महाजन एक पाई भी नहीं देता, उस पर उसका विश्वास नहीं है। वह जानता है, इसे रुपये देकर वसूल करना मुश्किल हो जायगा। उसी ब्राह्मण के पास अछूत असामी जाता है और बिना किसी लिखा-पढ़ी के रुपये ले आता है। ब्राह्मण को उस पर विश्वास है। वह जानता है, यह बेईमानी नहीं करेगा। ऐसे सत्यवादी, सरल हृदय, भक्ति-परायण लोगों को हम अछूत के नाम से पुकारते हैं, उनसे घृणा करते हैं, मगर हमारा विश्वास है, हिन्दू समाज की धार्मिक चेतना जाग्रत हो गयी है, अब वह ऐसे अन्यायों को सहन न करेगा। राष्ट्रों के जीवन का रहस्य उसकी समझ में आ गया है, वह ऐसी नीति का साथ न देगा, जो उसके जीवन की जड़ काट रही है।

21 नवम्बर 1932

हरिजन बालकों के लिए छात्रालय

नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग एक छात्रालय बनाया गया है। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं, और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिए।

5 दिसम्बर 1932

मंदिर-प्रवेश ही इस समस्या को हल न करेगा

हरिजनों की समस्या केवल मंदिर-प्रवेश से हल होनेवाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएं धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। आज शिक्षित हिन्दू-समाज में ज्यादा से ज्यादा पांच फीसदी रोजाना मंदिर में पूजा करने जाते होंगे। पांच फीसदी न अगर पांच फी हजार कहा जाय तो उचित होगा। शिक्षित हरिजन भी मन्दिर-प्रवेश को कोई महत्व नहीं देते। हरिजनों के अपने देवता अलग हैं। मन्दिर प्रवेश का अधिकार पाते ही वे अपने देवताओं को उठाकर दरिया में न फेंक देंगे। हिन्दू जाति उन्हें यह अधिकार देकर केवल अपना कलंक दूर करेगी, उसी तरह जैसे मृतक-श्राद्ध करके हम केवल अपनी आत्मा को शान्त करते हैं। मृत आत्मा को उससे लाभ होता है, इसके निश्चय करने का हमारे पास न कोई साधन है न इच्छा। असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियां देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए। हमारे ज़मींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफी जमीन देकर, उनसे बेगार लेना बन्द करके, उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयां दूर कर सकते हैं। समय तो इस समस्या को आप ही हल करेगा, पर हिन्दू जाति अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ सकती।

26 नवम्बर 1932

महान तप

क्या अब भी हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे। यह ऊंच-नीच, छोटे-बड़े का भेद हिन्दू-जीवन के रोम-रोम में व्याप्त हो गया है। हम यह किसी तरह नहीं भूल सकते, कि हम शर्मा हैं, या वर्मा, सिन्हा हैं या चौधरी, दुबे हैं या तिवारी, चौबे हैं या पाण्डे, दीक्षित हैं या उपाध्याय। हम आदमी पीछे हैं, चौबे या तिवारी पहले। और यह प्रथा कुछ इतनी भ्रष्ट हो गयी है, कि आज जो निरक्षर भट्टाचार्य है, वह भी अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी लिखने में जरा भी संकोच नहीं करता। वह अपने पुरुषाओं की साधना के बल पर आज भी चतुर्वेदी बना हुआ है, पर जिसने वेदों का अध्ययन किया है, उसे यह अधिकार नहीं

है कि वह अपने को चतुर्वेदी कह सके। कोई आदमी कुरान कण्ठ करके हाफ़िज हो सकता है, लेकिन यहां जो वेदों के ज्ञाता हैं, वे चतुर्वेदी नहीं कहे जा सकते। चतुर्वेदी तो वे हैं, जिन्होंने वेदों के दर्शन भी नहीं किये। यह और कुछ नहीं, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटना है, अपने अहंकार का बिगुल बजाना है। हम अपने को त्रिवेदी लिखकर मानों गला फाड़कर चिल्लाते हैं, कि ''हम और सब प्राणियों से ऊंचे हैं, हमें दण्डवत् करो, हमारा चरण-रज माथे पर लगाओ।'' हम इतने लज्जा-शून्य हो गये हैं।

होना तो यह चाहिए कि हममें बड़प्पन की कोई बात हो तो भी, उसे छिपावें। बड़प्पन तभी बड़प्पन है, जब उसमें नम्रता हो। जिस बड़प्पन में अहंकार भरा हुआ हो, वह बड़प्पन नहीं कुछ और है। त्रिवेदी जी ने वेदों के दर्शन भी नहीं किये, लेकिन गलती से आप उन्हें त्रिवेदी न कहें, तो फिर देखिए आपकी क्या गति होती है। त्रिवेदी जी हाँथ-पाँव के मजबूत हैं, तो आपको शीघ्र ही अपनी गलती का मज़ा मिल जायेगा, नहीं तो उनका कोप कहीं नहीं गया है। कुलीनता के इस अहंकार को हमें अपने अन्दर से निकाल डालना होगा। तभी हम समभाव से एक दूसरे को देख सकेंगे। ऐसे अल्लों से हमारे भेदभाव को उत्तेजना मिलती है। त्रिवेदी-त्रिवेदी एक हो जाते हैं, चौबे-चौबे एक, कपूर-कपूर एक, कायस्थ-कायस्थ एक। इस भेद-भाव से ऊँच-नीच की श्रेणियाँ बनी हुई हैं। कोई पहले डंडे पर, कोई सबसे ऊपर, पर हैं सब उसी एक अंहकार-सूत्र से बँधे हुए। समाज संगठन ही इसी भेद रचना से हुआ है। हम नहीं समझते, अपने नाम के साथ कुलीनता की पदवियाँ न लगाने से समाज की क्या हानि होगी। हम ब्रह्मनाथ हैं। इससे क्या कि हम त्रिवेदी हैं या कपूर, या माथुर, या चन्देल। अगर किसी को घमंड हो कि हम चन्देल-वंश के हैं, हमारे बाप-दादे बड़े वीर थे, तो फिर दूसरों को यह घमंड क्यों न हो कि हम त्रिवेदी हैं और हमारे लकड़दादा ने वेद पढ़े थे। लकड़दादों का कमाया हुआ यश बहुत दिन भोग चुके, अब उसका त्याग करना पड़ेगा। जब हम अपने को मिश्र या कपूर, या टंडन या माथुर कहते हैं, तो मानों हम अपने को समाज से अलग कर लेते हैं। ये सारे अल्ल उस पृथक्ता का पालन करते हैं। अगर हम भूल जायँ कि हम पाँडे या तिवारी हैं, तो हम सम्भवतः दूसरों के सामने नम्र हो जायेंगे। तिवारी का कवच पहनकर तो मानों हम सम्पूर्ण समाज से लड़ने को तैयार हो जाते हैं।

हमारे अभिवादन की प्रथा भी उसी भेद-भाव से जकड़ी हुई है। तिवारी जी की अभी जुम्मा-जुम्मा आठ दिन की पैदाइश है, दूध के दाँत भी नहीं टूटे, लेकिन

वह किसी के सामने सिर नहीं झुका सकते। अब्राह्मण चाहे अस्सी साल का बूढ़ा ही क्यों न हो, उसका धर्म है कि तिवारी जी को दंडवत् करे, उनके चरण छुए, नहीं तिवारी जी अपना अपमान समझेंगे। यह दंडवत् की समस्या भी आयु के आधार पर, या अन्य किसी आधार पर हल करनी होगी। उसका साम्प्रदायिक आधार नष्ट करना होगा। जब पूज्य गांधी जी इस भेदभाव को मिटाने के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहे हैं, तो क्या हमारा धर्म नहीं है कि हम भी इस अहंकारमय मनोवृत्ति का परित्याग करें? अगर कोई बूढ़ा हरिजन है, तो उसे हमारे सम्मान का पात्र होना चाहिए। अबे-तबे करके किसी को पुकारना उसका अपमान करना है। मूर्खों से तो नहीं, पर जो पढ़े-लिखे हैं उनसे यह आशा की जाती है कि हरिजनों के साथ वे शिष्टता का व्यवहार करें। बड़प्पन दूसरों को नीच समझने में नहीं, सज्जनता और शिष्टता में है। हमें इन छोटे-छोटे भेद-पोषक साधनों का तिरस्कार करना होगा, उन्हें उस अग्निकुण्ड में डालना होगा, जो महात्मा गांधी ने अपने तेज से प्रज्ज्वलित किया है। एक दिन झाड़ू हाथ में लेकर सड़कों पर तमाशा कर देने से यह अहंकार न मिटेगा, जो हरिजनों के अछूतपन का मुख्य कारण है। इसकी गहरी जड़ों को खोदकर समाज से निकालना होगा। हमारी ईश्वर से यही दीन प्रार्थना है कि भारत के प्राण गांधी के इस तप को सफल कीजिए और हमें सामर्थ्य दीजिए कि हम सच्चे मन से उनके इस तप को सफल बनाने और उनके द्वारा अपने को अहंकार की बेड़ियों से मुक्त करने में कृतकार्य हों।

15 मई 1933

मंदिर प्रवेश और हरिजन

महात्माजी के व्रत तथा तप का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है, कि हरिजनों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार एक प्रकार से शून्य के बराबर मिला है। लाखों मंदिरवाले इस महादेश में, कुछ मुट्टी भर और केवल साधारण मंदिर ही ऐसे हैं, जहां वे दर्शननार्थ जा सकते हैं। हम स्वयं किसी भी तर्क द्वारा यह बात समझ नहीं सकते कि हाड़-मांस की देहवाला, हिन्दू-धर्म पर अभिमान करनेवाला कोई हरिजन काशी विश्वनाथ या किसी वैसे ही पवित्र मंदिर में क्यों नहीं प्रवेश पा सकता, जबकि स्थान-स्थान पर मल-मूत्र विसर्जन करनेवाला सांड़ मंदिर में दर्शनार्थियों पर सींग चलाता हुआ स्वच्छन्दता-पूर्वक घूम सकता है। इस प्रकार की हठधर्मी का अब युग नहीं है और उच्च वर्णवालों को ईश्वर को भी अपनी 'स्त्री के समान अपनी ही वस्तु'

समझने की मूर्खता का परित्याग करना चाहिए।

पर, इसके साथ ही, किसी भी तर्क द्वारा हम यह नहीं समझ सकते कि अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन में मंदिर-प्रवेश को एक अनिवार्य स्थान क्यों नहीं दिया जा रहा है। समय की जैसी प्रगति है, इन मंदिरों की इस समय जैसी दशा है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ेगा कि हमारे हिन्दू-मंदिर भोग और प्रसाद, पुरोहित और पण्डे, ईश्वर के नाम पर व्यभिचार तथा दुराचार करनेवाले स्वार्थी और लोलुप-दर्शन करने जानेवालों से यह पहला प्रश्न करनेवाले कि पैसा चढ़ाओ-पामरों के अड्डे मात्र हैं। मन भर दर्शन नहीं करने पाइयेगा कि पुजारी जी पैसा चढ़ाओ की रट लगा देंगे। जी-भर भगवान के रूप का ध्यान भी न कर पाइयेगा कि चार-पाँच आदमी जबर्दस्ती आपके सर में चन्दन-सिन्दूर-रोली रगड़ने लगेंगे और पैसा माँगते-माँगते आपकी टेंट भी टटोलना शुरू कर देंगे। हमने भगवान को मनौती से, घूस से, पैसे से, दक्षिणा से प्रसन्न होनेवाला स्वार्थी बना रखा है। पग-पग पर हम पैसा देकर मुक्ति, नजात तथा स्वाधीनता खरीदना चाहते हैं। यह हमारा धर्म है, भक्ति है, अनुराग है। ऐसी दशा में मंदिरों की इतनी महत्ता व्यर्थ की है। हम मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं, टका-पूजा के शत्रु हैं।

हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के शत्रु अधिकांशत: वे लोग हैं, जो उनकी दरिद्रता को उपहास की, मजाक की वस्तु समझते हैं, जो यह जानते हैं कि इन दरिद्रों के मंदिर जाने न जाने से विशेष लाभ या हानि नहीं होती है। महात्माजी के उपवास से देश में हरिजन आन्दोलन की बाढ़-सी आ गयी है पर हरिजन सेवा का कार्य अवश्य बढ़ गया है। कार्यकर्ता वही पुराने हैं और, हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि महात्माजी के व्रत के दिनों में भी हरिजनों के लिए मंदिरों का द्वार खुलने की संख्या नगण्य-सी है। ....

धर्म के ठीकेदार, भिक्षावृत्ति से जीनेवाले, क्षेत्र में भोजनकर, मुफ्त का माल मारकर, दुराचार तथा अनाचार से पेट की रोटी चलाकर, आडम्बर, पाखण्ड, स्वार्थ तथा पैसे की पूजा करनेवाले क्या अब भी सचेत न होंगे? बहिष्कार बड़ी भयंकर, बड़ी कठोर, बड़ी भयावह वस्तु है। इसका सामना करना साधारण बात नहीं है। खीझकर सुधारक-समुदाय अब बहिष्कार की बात सोच रहा है। अत: हम मंदिरों के संचालकों से, यदि उनमें असली धार्मिकता अवशिष्ट है, उस धार्मिकता से, नेकनीयती तथा सच्चाई के नाते यह अनुरोध करते हैं कि अब दम्भ छोड़ दें और समय के साथ चलना सीखें। देश को भावी धार्मिक उत्क्रान्ति से बचा लें, अन्यथा अनर्थ हो जाने की सम्भावना है।

29 मई, 1933

बिहार मंदिर सम्मेलन

बिहार में हिन्दू-धर्म के ठेकेदारों ने अपने सम्मेलन में हरिजनों के मंदिर प्रवेश का खूब जोरों के साथ विरोध किया और स्व. महारानी विक्टोरिया की धार्मिक निष्पक्षता की घोषणा की दुहाई दी। हिन्दू धर्म तो यह कहता है कि प्राणीमात्र में परमात्मा का वास है, सर्वात्मवाद का इतना ऊँचा आदर्श और किसी धर्म ने भी उपस्थित नहीं किया, मगर मुसलमानों में तो मेहतर भी मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ सकता है, और यहाँ समाज का एक बड़ा भाग मंदिरों से बहिष्कृत किया जाता है। समाज का जो अंग बड़ी से बड़ी सेवा करता है, वह तो अछूत है, और जो तिलक लगाकर मुफ्त का माल उड़ाते हैं वह समाज का श्रेष्ठ अंग हैं। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म को कलंकित करनेवाली है और हिन्दू समाज इस अनीति को अब सहन नहीं कर सकता।

29 जनवरी 1934

इस हिमाक़त की भी कोई हद है?

छूत-छात और जात-पाँत का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है, कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्री कुएँ पर पानी भरने गयी। संयोगवश कुएं में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरन्त कुएं पर जमा हो गये और उस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस न था कि कुएं में उतर जाता। वहाँ कई हरिजन भी जमा हो गये थे। वे कुएँ में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएँ में कैसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता। नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएँ में मर गयी।

क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से उतरेगा?

14 मई 1934

भगत सिंह

(1907 - 1931)

शहीदे-आज़म भगतसिंह और उनके साहस, वीरता, देशभक्ति, त्याग व बलिदान को सभी लोग जानते हैं। लेकिन भगतसिंह के व्यक्तित्व को सिर्फ यहीं तक सीमित नहीं किया जा सकता, वे समाज की हर समस्या पर विचार करते थे। शोषण-उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने विचार किया है। जैसा कि शिव वर्मा ने लिखा है ''एक बुद्धिजीवी के रूप में भगतसिंह हम सबसे बहुत ऊंचे थे। जिस समय जल्लाद ने उनको जीवन के अधिकार से वंचित किया, वे मुश्किल से 24 वर्ष के थे। इतनी कम आयु में उन्होंने बड़े अधिकार के साथ कई विषयों पर लिखा था।'' असल में भगतसिंह के पास केवल क्रांतिकारी नारे ही नहीं थे, बल्कि पूरे देश की जनता को जागरूक बनाने का एक संपूर्ण कार्यक्रम था। भारतीय समाज के हर पहलू पर उनका एक नज़रिया था। -अजेय कुमार

अछूत - समस्या

[काकीनाडा में 1923 में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अनुसूचित जातियों को, हिन्दू और मुस्लिम मिशनरी संस्थाओं में बाँट देने का सुझाव दिया। इस प्रकार अछूतों को धर्म के नाम पर बाँटने की कोशिश की। उसी समय जब इस मसले पर बहस का वातावरण था, भगतसिंह ने 'अछूत का सवाल' नामक लेख लिखा। यह लेख जून, 1928 के 'किरती' में 'विद्रोही' नाम से प्रकाशित हुआ था। - सं.]

हमारे देश—जैसे बुरे हालात किसी दूसरे देश के नहीं हुए। यहाँ अजब-अजब सवाल उठते रहते हैं। एक अहम् सवाल अछूत-समस्या है। समस्या यह है कि 30 करोड़ की जनसंख्या वाले देश में जो 6 करोड़ लोग अछूत कहलाते हैं, उनके स्पर्श मात्र से धर्म भ्रष्ट हो जायेगा! उनके मन्दिरों में प्रवेश से देवगण नाराज हो उठेंगे! कुएँ से उनके द्वारा पानी निकालने से कुआँ अपवित्र हो जायेगा! ये सवाल बीसवीं सदी में किये जा रहे हैं, जिन्हें कि सुनते ही शर्म आती है।

हमारा देश बहुत अध्यात्मवादी है, लेकिन हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते

हुए भी झिझकते हैं जबकि पूर्णतया भौतिकवादी कहलाने वाला यूरोप कई सदियों से इन्कलाब की आवाज उठा रहा है। उन्होंने अमेरिका और फ्रांस की क्रान्तियों के दौरान ही समानता की घोषणा कर दी थी। आज रूस ने भी हर प्रकार का भेदभाव मिटाकर क्रान्ति के लिए कमर कसी हुई है। हम सदा ही आत्मा-परमात्मा के वजूद को लेकर चिन्तित होने तथा इस जोरदार बहस में उलझे हुए हैं कि क्या अछूत को जनेऊ दे दिया जायेगा? वे वेद-शास्त्र पढ़ने के अधिकारी हैं अथवा नहीं? हम उलाहना देते हैं कि हमारे साथ विदेशों में अच्छा सलूक नहीं होता। अंग्रेजी शासन हमें अंग्रेजों के समान नहीं समझता। लेकिन क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है?

सिन्ध के एक मुस्लिम सज्जन श्री नूर मुहम्मद ने, जो बम्बई कौंसिल के सदस्य हैं, इस विषय पर 1926 में खूब कहा—"If the Hindu Society refuses to allow other human beings, fellow creatures so that to attend public schools, and if…the president of local board representing so many lakhs of people in this house refuses to allow his fellows and brothers the elementary human right of having water to drink, what right have they to ask for more rights from the bureacracy? Before we accuse people coming from other lands, we should see how we ourselves behave toward our own people … How can we ask for greater political rights when we ourselves deny elementary rights of human beings."

वे कहते हैं कि जब तुम एक इन्सान को पीने के लिए पानी देने से भी इन्कार करते हो, जब तुम उन्हें स्कूल में भी पढ़ने नहीं देते तो तुम्हें क्या अधिकार है कि अपने लिए अधिक अधिकारों की माँग करो? जब तुम एक इन्सान को समान अधिकार देने से भी इनकार करते हो तो तुम अधिक राजनैतिक अधिकार माँगने के कैसे अधिकारी बन गये?

बात बिल्कुल खरी है। लेकिन यह क्योंकि एक मुस्लिम ने कही है इसलिए हिन्दू कहेंगे कि देखो, वह उन अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने में शामिल करना चाहते हैं!

जब तुम उन्हें इस तरह पशुओं से भी गया-बीता समझोगे तो वह जरूर ही दूसरे धर्मों में शामिल हो जायेंगे, जिनमें उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे, जहाँ उनसे इन्सानों जैसा व्यवहार किया जायेगा। फिर यह कहना कि देखो जी, ईसाई और मुसलमान हिन्दू कौम को नुकसान पहुँचा रहे हैं, व्यर्थ होगा।

कितना स्पष्ट कथन है, लेकिन यह सुनकर सभी तिलमिला उठते हैं। ठीक

इसी तरह की चिन्ता हिन्दुओं को भी हुई। सनातनी पण्डित भी कुछ-न-कुछ इस मसले पर सोचने लगे। बीच-बीच में बड़े 'युगान्तकारी' कहे जानेवाले भी शामिल हुए। पटना में हिन्दू महासभा का सम्मेलन लाला लाजपतराय—जो कि अछूतों के बहुत पुराने समर्थक चले आ रहे हैं—की अध्यक्षता में हुआ, तो जोरदार बहस छिड़ी। अच्छी नोंक-झोंक हुई। समस्या यह थी कि अछूतों को यज्ञोपवीत धारण करने का हक है अथवा नहीं? तथा क्या उन्हें वेद-शास्त्रों का अध्ययन करने का अधिकार है? बड़े-बड़े समाज-सुधारक तमतमा गये, लेकिन लालाजी ने सबको सहमत कर दिया तथा यह दो बातें स्वीकृत कर हिन्दू धर्म की लाज रख ली। वरना ज़रा सोचो, कितनी शर्म की बात होती। कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन एक इन्सान का हमसे स्पर्श हो जाये तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है। इस समय मालवीय जी—जैसे बड़े समाज-सुधारक, अछूतों के बड़े प्रेमी और न जाने क्या-क्या पहले एक मेहतर के हाथों गले में हार डलवा लेते हैं, लेकिन कपड़ों सहित स्नान किये बिना स्वयं को अशुद्ध समझते हैं! क्या खूब यह चाल है! सबको प्यार करनेवाले भगवान की पूजा करने के लिए मन्दिर बना है लेकिन वहाँ अछूत जा घुसे तो वह मन्दिर अपवित्र हो जाता है! भगवान रुष्ट हो जाता है! घर की जब यह स्थिति हो तो बाहर हम बराबरी के नाम पर झगड़ते अच्छे लगते हैं? तब हमारे इस रवैये में कृतघ्नता की भी हद पायी जाती है। जो निम्नतम काम करके हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं उन्हें ही हम दुरदुराते हैं। पशुओं की हम पूजा कर सकते हैं, लेकिन इन्सान को पास नहीं बिठा सकते!

आज इस सवाल पर बहुत शोर हो रहा है। उन विचारों पर आजकल विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में मुक्ति-कामना जिस तरह बढ़ रही है, उसमें साम्प्रदायिक भावना ने और कोई लाभ पहुँचाया हो अथवा नहीं लेकिन एक लाभ जरूर पहुँचाया है। अधिक अधिकारों की माँग के लिए अपनी-अपनी कौम की संख्या बढ़ाने की चिन्ता सभी को हुई। मुस्लिमों ने ज़रा ज्यादा जोर दिया। उन्होंने अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने बराबर अधिकार देने शुरू कर दिये। इससे हिन्दुओं के अहम् को चोट पहुँची। स्पर्धा बढ़ी। फसाद भी हुए। धीरे-धीरे सिखों ने भी सोचा कि हम पीछे न रह जायें उन्होंने भी अमृत छकाना आरम्भ कर दिया। हिन्दू-सिखों के बीच अछूतों के जनेऊ उतारने या केश कटवाने के सवालों पर झगड़े हुए। अब तीनों कौमें अछूतों को अपनी-अपनी ओर खींच रही हैं। इसका बहुत शोर-शराबा है। उधर ईसाई चुपचाप उनका रुतबा बढ़ा रहे हैं। चलो, इस सारी हलचल से ही देश के दुर्भाग्य की लानत दूर हो रही है।

इधर जब अछूतों ने देखा कि उनकी वजह से इनमें फसाद हो रहे हैं तथा उन्हें हर कोई अपनी-अपनी खुराक समझ रहा है तो वे अलग ही क्यों न संगठित हो जायें? इस विचार के अमल में अंग्रेजी सरकार का कोई हाथ हो अथवा न हो लेकिन इतना अवश्य है कि इस प्रचार में सरकारी मशीनरी का काफी हाथ था। 'आदि धर्म मण्डल' जैसे संगठन उस विचार के प्रचार का परिणाम हैं।

अब एक सवाल और उठता है कि इस समस्या का सही निदान क्या हो? इसका जवाब बड़ा अहम है। सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि **सब इन्सान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य-विभाजन से।** अर्थात् क्योंकि एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवन-भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फिजूल हैं। इस तरह हमारे पूर्वज आर्यों ने इनके साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया तथा उन्हें नीच कहकर दुत्कार दिया एवं निम्नकोटि के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिन्ता हुई कि कहीं ये विद्रोह न कर दें, तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापों का फल है। अब क्या हो सकता है? चुपचाप दिन गुजारो! इस तरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें लम्बे समय तक के लिए शान्त करा गये। लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलम्बन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया। आज उस सबके प्रायश्चित का वक्त है।

इसके साथ एक दूसरी गड़बड़ी हो गयी। लोगों के मनों में आवश्यक कार्यों के प्रति घृणा पैदा हो गयी। हमने जुलाहे को भी दुत्कारा। आज कपड़ा बुननेवाले भी अछूत समझे जाते हैं। यू पी की तरफ कहार को भी अछूत समझा जाता है। इससे बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई। ऐसे में विकास की प्रक्रिया में रुकावटें पैदा हो रही हैं।

इन तबकों को अपने समक्ष रखते हुए हमें चाहिए कि हम न इन्हें अछूत कहें और न समझें। बस, समस्या हल हो जाती है। नौजवान भारत सभा तथा नौजवान कांग्रेस ने जो ढंग अपनाया है, वह काफी अच्छा है। जिन्हें आज तक अछूत कहा जाता रहा उनसे अपने इन पापों के लिए क्षमा-याचना करनी चाहिए तथा उन्हें अपने—जैसा इन्सान समझना, बिना अमृत छकाये, बिना कलमा पढ़ाये या शुद्धि किये उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना, यही उचित ढंग है। और आपस में खींचतान करना और व्यवहार में कोई भी हक न देना, कोई ठीक बात नहीं है।

जब गांवों में मजदूर-प्रचार शुरू हुआ उस समय किसानों को सरकारी आदमी यह बात समझाकर भड़काते थे कि देखो, यह भंगी, चमारों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और तुम्हारा काम बन्द करवायेंगे। बस किसान इतने में ही भड़क गये। उन्हें याद रहना चाहिए कि उनकी हालत तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि वे इन गरीबों को नीच और कमीन कहकर अपनी जूती के नीचे दबाये रखना चाहते हैं। अक्सर कहा जाता है कि वह साफ नहीं रहते। इसका उत्तर साफ है—वे गरीब हैं। गरीबी का इलाज करो। ऊँचे ऊँचे कुलों के गरीब लोग भी कोई कम गन्दे नहीं रहते। गन्दे काम करने का बहाना भी नहीं चल सकता, क्योंकि माताएँ बच्चों का मैला साफ करने से मेहतर तथा अछूत तो नहीं हो जातीं।

लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमें अपने आपको संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग संगठनबद्ध करना तथा मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की माँग करना बहुत आशाजनक संकेत हैं। या तो साम्प्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कौसिलों और असेम्बलियों का कर्त्तव्य है कि वे स्कूल-कालेज, कुएँ तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता दिलायें। जबानी तौर पर ही नहीं, वरन साथ ले जाकर उन्हें कुओं पर चढ़ायें। उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश दिलायें। लेकिन जिस लेजिस्लेटिव में बाल-विवाह के विरुद्ध पेश किये बिल तथा मजहब के बहाने हाय-तौबा मचायी जाती है, वहाँ वे अछूतों को अपने साथ शामिल करने का साहस कैसे कर सकते हैं ?

इसलिए हम मानते हैं कि उनके अपने जन प्रतिनिधि हों। वे अपने लिए अधिक अधिकार माँगें। हम तो साफ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलाने वाले असली जन सेवको तथा भाइयो उठो! अपना इतिहास देखो। गुरु गोबिन्दसिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे! शिवाजी तुम्हारे भरोसे पर ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आज भी जिन्दा है। तुम्हारी कुर्बानियाँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई हैं। तुम जो नित्यप्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढ़ोतरी करके और जिन्दगी सम्भव बनाकर यह बड़ा भारी अहसान कर रहे हो, उसे हम लोग नहीं समझते। लैण्ड-एलियेनेशन एक्ट के अनुसार तुम धन एकत्र कर भी जमीन नहीं खरीद सकते। तुम पर इतना जुल्म हो रहा है कि मिस मेयो मनुष्यों से भी कहती हैं—उठो, अपनी शक्ति पहचानो। संगठनबद्ध हो जाओ। असल में स्वयं कोशिशें किये बिना कुछ भी न मिल सकेगा। (Those who want to be free must themselves

strike the blow) स्वतन्त्रता के लिए स्वाधीनता चाहने वालों को यत्न करना चाहिए। इन्सान की धीरे-धीरे ऐसी आदतें हो गयी हैं कि वह अपने लिए तो अधिक अधिकार चाहता है, लेकिन जो उनके मातहत हैं उन्हें वह अपनी जूती के नीचे दबाये रखना चाहते हैं। कहावत है, 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते'। अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इनकार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुँह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे नौकरशाही के झाँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। तुम असली सर्वहारा हो संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जायेंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो, सोये हुए शेरो! उठो, और बगावत खड़ी कर दो।

बी.टी. रणदिवे

(1904 - 1990)

बी. टी. रणदिवे भारत के वामपंथी आंदोलन के अग्रणी नेता, देश के मजदूर वर्ग के संगठन, सी.आई.टी.यू. (सीटू) के अध्यक्ष और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के पोलिट ब्यूरो के सदस्य थे। बीटी रणदिवे ने देश की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं पर लगातार लिखा है, जाति को भारतीय जनता की एकता में बाधक मानते थे। उनका मानना था कि ''जन संघर्षों के नेताओं को जातिवाद और अस्पृश्यता से उत्पन्न फूटपरस्त चुनौती को शिकस्त देनी है। इसके लिए उन्हें संघर्षरत मेहनतकशों के दिलों में जातिवाद के खिलाफ एक जबर्दस्त जज्बा पैदा करना होगा। और उनमें सर्वहारा की एकता और एकजुटता की भावना का संचार करना होगा। जाति प्रथा और अस्पृश्यता के खिलाफ जबरदस्त विचारधारात्मक प्रचार के जरिये यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।.... एकजुट मेहनतकशों की शक्तिशाली वाहिनी निर्णायक रूप से कृषि क्रांति के लिए जूझ सकेगी और जातिगत भेदभाव तथा अस्पृश्यों की भू-दासता के आधार को ध्वस्त कर सकेगी। केवल तभी जनवादी ताकतें उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के आधार पर राजसत्ता पर अधिकार तथा द्रुत औद्योगीकरण की राह दमदार कर सकेंगी और जातिहीन व वर्गहीन समाज की स्थापना कर सकेंगी।'' बी.टी.आर. का प्रस्तुत लेख जाति और वर्ग के सामाजिक व आर्थिक आधार से जुड़े सवालों पर विचार करता है। कृषि क्रांति द्वारा भूमि के संबंधों में परिवर्तन ही जातिवाद के रोग का सही उपचार है।

जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध

जाति व्यवस्था आज भी कायम है, उससे जुड़ी हुई धारणाएं अभी तक बनी हुई हैं, आज भी उसके खिलाफ संघर्ष चल रहा है। इस सारी प्रक्रिया को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि उसे 19वीं और 20वीं शताब्दी की मुख्य राजनैतिक और आर्थिक घटनाओं के संदर्भ में नहीं देखते।

साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रवादी चेतना का उभार, साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का उभार और इसके साथ-साथ जारी मजदूरों तथा किसानों के संघर्ष, इस दौर की प्रमुख घटनाएं थीं जिनके कारण अंग्रेजों को भारत से जाना पड़ा।

एक ही प्रक्रिया

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष, राष्ट्रीय एकता की विकसित होती हुई भावना, जाति प्रथाविरोधी आंदोलन तथा विद्रोह—ये सभी जिस एक ही प्रक्रिया के विभिन्न अंग थे उसे भारत द्वारा आधुनिक राष्ट्र का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया कहा जाता है। इस आधुनिक राष्ट्र की उदीयमान राजनैतिक व्यवस्था में, इसके सभी तबके समानता और बराबरी के स्तर की मांग कर रहे थे। यह एक क्रमिक और धीमी प्रक्रिया थी; शुरुआत में विभिन्न जातियां और उपजातियां अपनी आकांक्षाओं को अलग-अलग तरीके से अभिव्यक्त कर रही थीं। कुछ ने साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध सीधे संघर्ष से शुरुआत की तो कुछ दूसरों में हिंदू-समाज में अपने नाबराबरी के स्तर की चेतना पैदा हुई और उन्होंने जातिगत असमानता के विरुद्ध संघर्ष शुरू किया। आगे चलकर, इन विभिन्न संघर्षों में से अधिकांश साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष की बड़ी धारा में घुलमिल गये, हालांकि कुछ ने जरूर बाद तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा। दरअसल, यह प्रक्रिया वंश-परंपरा पर आधारित जाति प्रथावली पुरानी हिंदू प्रणाली के विघटन, या कमजोर होने की ही प्रक्रिया थी; प्राचीन हिंदू व्यवस्था के कमजोर होने, और उसके विघटन की इस प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए मार्क्स ने लिखा था :

> हिंदुस्तान में, एक के बाद एक, तमाम गृहयुद्धों, आक्रमणों, क्रांतियों, विजयों, अकालों आदि का प्रभाव कितना ही जटिल, तीव्र और विनाशकारी क्यों न लगता हो, असलियत यही है कि इनका कोई गहरा असर नहीं पड़ा जबकि इंग्लैंड ने भारतीय समाज के ढांचे को पूरी तरह चकनाचूर कर दिया। फिलहाल, इसके पुनर्निर्माण के कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ रहे। नयी दुनिया के निर्माण के अभाव में उसकी पुरानी दुनिया के विनाश ने हिंदू समाज की वर्तमान बेहाली को एक खास तरह से करुण रंग दे दिया है। यही वह चीज है जो ब्रिटिश शासनाधीन भारत को, उसकी सारी की सारी प्राचीन परंपरा से, उसके सारे पुराने इतिहास से, अलग करती है।[1]

हिंदू समाज की इस पुरानी दुनिया के टूटने का मार्क्स को कोई अफसोस न था। मार्क्स को मालूम था कि यह दुनिया, अमानवीय जाति-विभाजनों और दासता पर ही आधारित थी :

> हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये छोटे-छोटे समुदाय जाति-विभाजनों और दासता की बीमारियों से ग्रस्त थे, ये मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों का स्वामी बनाने के बजाय, उनका दास बनाकर रखते थे, और अपने द्वारा निर्मित एक

सामाजिक स्थिति को प्राकृतिक नियम का रूप देते थे, अमानवीय प्रकृति-पूजा इसी का परिणाम थी। इस पतन को इस तथ्य में देखा जा सकता है कि प्रकृति का स्वामी मनुष्य, बंदर 'हनुमान' और गाय—'सबला' की पूजा करने के भाव से इन्हें साष्टांग प्रणाम करता है।[2]

भारतीय समाज को बदलना औपनिवेशिक शासकों के हित में नहीं पड़ता था। पुराने समाज, उसके स्तर-विभाजन, उसकी अर्थव्यवस्था के बदलाव की प्रक्रिया, धीमी और कष्टप्रद प्रक्रिया थी। फलतः जाति-प्रथा को संरक्षण देनेवाले पुराने सामंती भूमि-संबंधों पर न्यूनतम आधुनिक पूंजीवादी संबंध थोप दिये गये। ब्रिटिश उपनिवेशी शासन की जरूरत थी कि स्थानीय शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग का उदय न हो। यह शासन भारतीय जनता के पिछड़ेपन के आधार पर ही उसका शोषण करना चाहता था। इसका अर्थ यही था कि जहां तक संभव हो ग्रामीण भूमि-संबंधों को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाय। उनमें कोई फेरबदल किया भी जाय तो सिर्फ उतना ही जितना अपने हितों को पूरा करने के लिए जरूरी हो।

इस प्रकार दो परस्परविरोधी प्रक्रियाएं जारी थीं। एक ओर, आधुनिक संबंधों की शुरुआत हो रही थी—रेलें, संचार-साधन, टेलीग्राफ, वर्कशाप तथा कुछ फैक्टरियां, बढ़ता हुआ माल विनिमय, निर्यात तथा आयात जैसी नयी चीजें पुराने ढांचे और उससे जुड़ी हुई जाति-प्रथा को कमजोर करने की प्रवृत्ति को बढ़ा रही थीं, जबकि दूसरी ओर, पुराने भूमि-संबंधों को बनाये रखने में औपनिवेशिक शासकों का खास हित था। सामाजिक और आर्थिक मदद के लिए सामंतों पर निर्भर करने का अर्थ था जाति प्रथा को समर्थन देना।

पुनरुत्थानवाद और समझौता

हिंदू उच्च जातियों से आनेवाले, उभरते हुए पूंजीवादी बुद्धिजीवी भी जो राष्ट्रीय आंदोलन के नेता थे, जाति-प्रथा के साथ समझौता करना चाहते थे। हम सौ साल पहले की पिछड़ी हुई आर्थिक अवस्था की कल्पना कर सकते हैं। बुद्धिजीवी वर्ग अभी साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का 'क-ख-ग' ही सीख रहा था। देशी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के समर्थन का मजबूत आधार अभी उसे प्राप्त नहीं था। दलित जनता से यह वर्ग अलग-थलग पड़ा था और अपने तत्कालीन अनुयायियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने से बेहद डरता था। इसके अलावा, अंग्रेजों के खिलाफ अपने संघर्ष में भारतीय राष्ट्रवादियों ने लोकतंत्र और स्वाधीनता के अपने दावे के लिए भारत के अतीत से शक्ति प्राप्त की। इसी वजह से वे पुनरुत्थानवादी सोच और

विचारधारा की ओर मुड़ गये। रजनी पामदत्त ने लिखा है :

> मौजूदा सड़ांध तथा पतनशील-भ्रष्ट अध्यात्मवाद, जर्जर ग्राम्य व्यवस्था के टूटे अवशेषों और चुकी हुई सभ्यता की दरबारी चकाचौंध की बोसीदा यादों के सहारे उन्होंने हिंदू संस्कृति के सुनहरे स्वप्न का जीर्णोद्वार करने की, उसको नये सिरे से निर्मित करने की कोशिश की। इस 'पवित्र' हिंदू-संस्कृति को वे अपना आदर्श, अपना पथप्रदर्शक बनाना चाहते थे। ब्रिटिश पूंजीवादी संस्कृति और विचारधारा की तेज बाढ़ भारतीय पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों को पूरी तरह से आक्रांत करती लगती थी। इसके खिलाफ उन्होंने खोद कर निकाली गयी इस हिंदू विचारधारा की कमजोर सी ढाल का सहारा लिया जबकि उस विचारधारा का वास्तविक जीवन-स्थितियों में कोई प्राकृतिक आधार नहीं था। इस मत के अतिवादी अनुयायियों ने, विजेताओं की संस्कृति कहकर, हर तरह के सामाजिक, वैज्ञानिक विकास का विरोध किया। प्राचीन परंपरा की हर चीज, यहां तक कि बुराइयों, विशेषाधिकारों और पोंगापंथी विचारों तक को आदर और सम्मान दिया गया।[3]

इसमें शक नहीं कि पश्चिमी तौर-तरीकों के इस विरोध के साथ, लोकतंत्र और औद्योगिक विकास की मांगें भी जुड़ी हुई थीं। पुनरुत्थानवाद का मतलब था जाति-व्यवस्था की हिफाजत करना और उसको कायम रखना तथा उसके खिलाफ लड़ने में नाकामयाब होना। तिलक ने हर तरह के समाज-सुधार का, यहां तक कि विवाह की उम्र बढ़ाने तक का विरोध किया। तिलक जाति व्यवस्था में विश्वास रखते थे और उसकी वकालत करते थे। गांधी तक ने जो राष्ट्रीय आंदोलन के बाद के एक भिन्न दौर का प्रतिनिधित्व करते थे, पुनरुत्थानवाद पर उन्हीं की तरह पूरा भरोसा किया। प्रथम असहयोग आंदोलन के दौरान उन्होंने हर विदेशी चीज, यहां तक कि पश्चिमी दवाई, पश्चिमी शिक्षा और रेलवे के खिलाफ खुला अभियान चलाया। गांधी ने एक बार यहां तक कहा कि ''ईश्वर ने मनुष्य को दो पैर देकर उसकी गति को सीमित रखा, लेकिन, मनुष्य महत्वाकांक्षी बन बैठा और उसने रेल बना ली।'' उन दिनों वे भारत में फिर से 'राम-राज' कायम करने की बात बार-बार दुहराते रहे थे। इसमें शक नहीं कि बाद के दौर में उनका दृष्टिकोण ज्यादा आधुनिक हो गया था, उसका ज्यादा पूंजीवादीकरण हो गया था, लेकिन अस्पृश्यता के खिलाफ अपने सारे अभियान के बावजूद वे पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से ही बंधे रहे। 1921 में ही उन्होंने घोषणा कर दी थी कि वे सनातनी हिंदू हैं :

मैं स्वयं को सनातनी हिंदू मानता हूं क्योंकि—(1) मैं वेद, उपनिषद, पुराण

तथा सारे हिंदू धर्म-ग्रंथों में और इसीलिए अवतारों तथा पुनर्जन्म में विश्वास करता हूं। (2) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखता हूं। उसके मौजूदा आम-फहम तथा भद्दे रूप में नहीं बल्कि उसके वैदिक रूप में। (3) मैं गौ-रक्षा में विश्वास रखता हूं—आम तौर पर इसके लिये जानेवाले अर्थ से भी कहीं व्यापक अर्थ में और (4) मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।[4]

यह थी, राष्ट्रीय साम्राज्यवादी संघर्ष के दौर में कांग्रेस का नेतृत्व करने वाले राष्ट्रपिता की विचारधारा। इस विचारधारा के बावजूद, वे लाखों-लाख लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में खींच सके और थोड़ी देर के लिए जातीय विभाजनों से उन्हें ऊपर उठा सके। 1920-21 के दौर में भी लाखों मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन की आम धारा में खींचने वाले भी वही थे। मगर यह बात साफ थी कि इस तरह के पुरुत्थानवादी नजरिये और जाति-प्रथाविरोधी संघर्ष को साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष से अलग करके रखने के कारण जाति भेद बरकरार रहे। इस दृष्टिकोण के चलते हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी को खत्म करने की तो कल्पना करना ही बेकार था।

जवाहरलाल नेहरू के आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष विचारों के बावजूद, राष्ट्रीय आंदोलन पर गांधीवादी दृष्टिकोण ही हावी रहा। कुछ आलोचक भूलवश इस दकियानूसी दृष्टिकोण को जातिवादी दबाव के सामने आत्म-समर्पण मानते हैं और सवर्ण राष्ट्रीय उच्च नेताओं के जातिवाद में विश्वास के परिणाम के ही रूप में इस प्रक्रिया को समझते हैं। यह बुनियादी तौर पर जाति व्यवस्था की रक्षा करनेवाले देशी सामंती भूमि-संबंधों के सामने, आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का समर्पण ही था। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिगत स्तर पर जातिवादी चेतना की कोई भूमिका नहीं थी। यदि बुनियादी तौर पर अन्यायपूर्ण कृषि-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया तो चेतना का स्तर यही रहेगा।

कृषि क्रांति का डर

राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में इसी तरह के दुहरे चरित्रवाला बुद्धिजीवी वर्ग हमारे यहां था। एक ओर उदीयमान पूंजीपति वर्ग के उद्देश्यों और हितों के साथ एकाकार होकर, नये लोकतांत्रिक मूल्यों की घोषणा करते हुए उसने साम्राज्यवादियों पर प्रहार किया, तो दूसरी ओर पुरानी सामंती व्यवस्था तथा संस्थाओं से गठजोड़ भी किया। पहले, विदेशी शत्रु पर हमला केंद्रित करने के उद्देश्य के रूप में इस गठजोड़ की वकालत की गयी। महाराष्ट्र तथा दूसरी जगहों पर सूदखोर विरोधी कानूनों का

इसने जो विरोध किया, वह कोई जातिवादी गठजोड़ नहीं बल्कि इसी वर्गीय गठजोड़ का नतीजा था। वे किसानों पर लगे सरकारी करों तथा भूमिकर और इसी तरह के अन्य सरकारी कदमों का विरोध करने के लिए तो तैयार थे, मगर अपने कार्यक्रम में कृषि-संबंधों का उल्लेख करने से वे बाद तक कतराते रहे। हालांकि राष्ट्रीय आंदोलन के बाद के नेताओं के लिए ठीक यही रवैया अपनाना तो संभव न हो सका और उन्होंने जाति संबंधी असंतोष और भूमि-संबंधों दोनों का ही चालाकी से फायदा उठाया, मगर, बुनियादी तौर पर उनका रवैया वही पुराना रहा।

1920 में कांग्रेस ने खुले तौर पर बड़े जमींदारों के प्रति अपनी पक्षधरता दिखायी। उसने जमींदारों को किसानों द्वारा कमरतोड़ लगानों की अदायगी न करने पर उन्हें फटकारा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी अभियान को वापस लेने से संबंधित 12 फरवरी, 1922 के बारदोली फैसले में यह भी कहा गया था कि ''वर्किंग कमेटी कांग्रेस कार्यकर्ताओं और संगठनों को सलाह देती है कि वे रैयतों को समझा दें कि जमींदारों का लगान रोकना कांग्रेस के प्रस्तावों के खिलाफ है और यह कार्रवाई देश के उच्चतर हितों के तईं घातक है। वर्किंग कमेटी जमींदारों को आश्वस्त करती है कि कांग्रेस आंदोलन उनके वैध हितों पर हमला बोलने के कतई पक्ष में नहीं है। कमेटी का फैसला है कि अगर रैयतों को कोई शिकायत हो भी तो उनका हल आपसी बातचीत और पंच फैसले के जरिये ही निकाला जाय।'' कांग्रेस का यह कथन उस दौर का था जिसमें संयुक्त प्रांत और दूसरे हिस्सों में जमींदारों के खिलाफ किसान जनता के बड़े हिस्सों ने आंदोलन शुरू कर दिये थे।

बाद के सालों में कांग्रेसी नेताओं को किसान जनता के समर्थन पर ज्यादा से ज्यादा निर्भर रहना पड़ा। इसके बावजूद इतने भोंड़े तरीके से जमींदारों के हितों की रक्षा करने का उनका रवैया बदला नहीं। कांग्रेस ने काश्तकारों आदि को न्याय दिलाने की बात करना तो शुरू कर दिया, लेकिन कृषि क्रांति से उसका विरोध ज्यों का त्यों बना रहा और जमींदारों से उनका गठबंधन बरकरार रहा। यह आकस्मिक ही नहीं था कि गांधी ने देशी रजवाड़ों के भारत को 'भारतीय भारत' बताया और उनकी तारीफों के पुल बांधे। कांग्रेस कई सालों तक देशी रजवाड़ों में व्यापक आंदोलनों का विरोध करती रही।

कृषि-क्रांति का भय और देशी दकियानूसी ताकतों के साथ उनका गठजोड़, कोई संयोग नहीं था। भारत के कमजोर औद्योगिक पूंजीपति वर्ग में साम्राज्यवाद की चुनौती का मुकाबला करने का साहस नहीं था। इसके लिए उसे पुराने और स्थापित संपत्तिशाली वर्गों का सहारा लेना जरूरी था। बुद्धिजीवी वर्ग का एक हिस्से का

संबंध भी इसी संपत्ति शाली वर्ग से था। इसके अलावा बीसवीं शताब्दी में पूंजीवाद के पतन के इस दौर में पूंजीपति वर्ग एक दृढ़ सामंतवादविरोधी भूमिका अदा करने में समर्थ नहीं था—इस सचाई पर मार्क्सवादियों ने गौर किया था। दर असल, इसी सचाई पर गौर करते हुए लेनिन ने घोषणा की थी कि रूस में मजदूर वर्ग ही जनवादी क्रांति का नेतृत्व कर सकता है। इसकी सफलता के लिए मजदूर वर्ग का नेतृत्व अनिवार्य है। बाद की क्रांतियां इसकी गवाह हैं कि मजदूर वर्ग के नेतृत्व में ही कृषि-क्रांति सहित, साम्राज्यवादविरोधी क्रांतियां कामयाब हुई हैं जिनसे समाजवाद के लिए रास्ता तैयार हुआ है। चीन, कोरिया, वियतनाम इसके उदाहरण हैं, जहां कृषि-क्रांति पूरी नहीं हुई, वहां साम्राज्यवादविरोधी क्रांति अधूरी ही रह गयी। कुछ देशों, मसलन इंडोनेशिया, में इसकी परिणति फासीवाद में हुई। अविकसित देशों में से ज्यादातर देशों में, जहां पूंजीपति वर्ग ने अपना ही वर्चस्व बनाये रखा और कृषि-क्रांति को पूरा नहीं होने दिया, वहां पूर्व-पूंजीवादी विचारधाराएं और उनसे जुड़े संबंध बरकरार रहे हैं। नतीजा यही हुआ कि इन देशों में जनतंत्र को उखाड़ फेंका गया। आज भी पान-इस्लामिज्म, इस्लामिक गणराज्य, 'सीमित गणतंत्र' और इसी तरह की अनेक प्रतिक्रियावादी सामंती विचारधाराएं लोगों के दिमागों में घर किये बैठी हैं क्योंकि पूंजीवाद से पहले के जिन संबंधों या जिन कबीलाई संबंधों से ये विचारधाराएं जन्म लेती हैं उनकी जमीन अभी तक उपजाऊ है। हमारे देश के समाज-सुधारकों ने भारत में कृषि-क्रांति और जातिगत व समुदायगत असमानताओं, पूर्वग्रहों तथा इनसे चालित दृष्टिकोणों के कायम बने रहने के बीच के इस महत्वपूर्ण रिश्ते को नहीं पहचाना है। उनके लिए जातिवाद और सांप्रदायिकता सामाजिक अन्याय भर हैं, जिनका उत्पादन के रिश्तों से कोई संबंध नहीं है। उनकी नजर में ये कुप्रथाएं सिर्फ पूर्वग्रह हैं जिनकी निंदा करके, इनमें विश्वास रखने वालों को इन्हें छोड़ देने पर राजी कर लेने भर से, इनसे मुक्त हुआ जा सकता है, इससे ज्यादा और कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। इनके खिलाफ संघर्ष को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष से व इस व्यवस्था के पूर्व-पूंजीवादी तथा पूंजीवादी आधार के विरुद्ध संघर्ष से और वर्गीय शोषण के इसके आधार के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। उनके तईं यह संघर्ष आम जनवादी आंदोलन का यानी आधुनिक वर्ग-संघर्ष का हिस्सा नहीं होना चाहिए।

कम्युनिस्ट पार्टी

कम्युनिस्ट पार्टी ही अकेली पार्टी थी जिसने छुआछूत तथा जाति व्यवस्था के

विरुद्ध संघर्ष को कृषि-क्रांति से, और साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष से, जोड़ा। यही अकेली पार्टी थी जिसने कृषि-क्रांति और वर्ग-संघर्ष को हिंदू-मुस्लिम भेदभाव को दूर करने की कुंजी बताया। 1930 में सी.पी.आइ. द्वारा प्रस्तुत 'कार्रवाई के लिए मंच' में कहा गया था कि :

> ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन का ही यह नतीजा है कि आज भी हमारे देश में लाखों की तादाद में गुलाम हैं। आज भी समाज से बहिष्कृत करोड़ों अछूत मेहनतकश हैं जिन्हें कोई अधिकार ही नहीं है। ब्रिटिश शासन, जमींदारी प्रथा, प्रतिक्रियावादी जाति प्रथा, धार्मिक पाखंड और गुलामी तथा भूदासता की सारी पुरानी परंपराएं, हमारे देश की जनता का गला घोंट रही हैं तथा जनता की मुक्ति के रास्ते में बाधक हैं। इन्हीं का नतीजा है कि आज बीसवीं शताब्दी में भी हमारे देश में अछूत हैं जिन्हें अन्य मनुष्यों से मिलने-जुलने, सार्वजनिक कुओं से पानी पीने, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने आदि का कोई अधिकार ही नहीं है।
>
> भारतीयों के नाम पर लगे हुए इस शर्मनाक धब्बे को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म करने के बजाय गांधी और दूसरे कांग्रेसी नेता जाति प्रथा को बनाये रखने का आह्वान कर रहे हैं। यह जाति प्रथा ही है जिसके चलते अछूतों की यह अवस्था है। यही अछूतों के सामाजिक रूप से बहिष्कृत होने का औचित्य सिद्ध करती है। जाति प्रथा के इस सुधरे हुए गांधीवादी रूप का निर्मम ध्वंस, कृषि-क्रांति और ताकत के बल पर ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का रास्ता ही एकमात्र रास्ता है, जिस पर चलकर मेहनतकश अछूतों और गुलामों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और न्यायिक मुक्ति हो सकती है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सभी अछूतों का आह्वान करती है कि वे देश भर के मजदूरों के साथ मिलकर ब्रिटिश-शासन और जमींदारीविरोधी संयुक्त क्रांतिकारी मोर्चे का हिस्सा बनें।
>
> भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सभी अछूतों का आह्वान करती है कि वे देश की मेहनतकश जनता के एक हिस्से के खिलाफ दूसरे हिस्से को खड़ा करने की ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और उनके प्रतिक्रियावादी एजेंडों की चालों से बचें।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी गुलामी, जाति प्रथा और हर किस्म की जातिगत असमानता के पूरी तरह से खात्मे के लिए संघर्ष करती है—भले ही वह असमानता सांस्कृतिक, सामाजिक या किसी भी रूप में क्यों न हो। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का संघर्ष मेहनतकश अछूतों और हमारे देश की मेहनतकश जनता के हर हिस्से की

पूरी-पूरी बराबरी के लिए है।

कम्युनिस्ट इस बात को अच्छी तरह से समझते थे कि एक उपनिवेश में औद्योगिक प्रगति की धीमी गति के चलते किसान जनता का सर्वहाराकरण उतना नहीं हेता जितनी कि उसकी तबाही होती है। शहरी फैक्टरियों तक पहुंच जानेवालों की अपनी ग्रामीण छाप आसानी से छूटती नहीं है। शुरू-शुरू में जमीन से उनके संबंध बने रहते हैं और हर साल दो महीने के लिए वे अपने गांव चले जाया करते हैं। इसके अलावा, ग्रामीण क्षेत्र से नये-नये लोग आकर जितनी तेजी से उनकी कतारों में जुड़ रहे थे, उससे मजबूत वर्गीय विचारधारा के विकास में लगातार विकृति आती रही थी। यह बात साफ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पूर्व-पूंजीवादी भूमि-संबंधों पर प्रहार करना जरूरी था।

1928 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत 'कोलोनियल थीसिस' में कहा गया था:

> साम्राज्यवाद के हस्तक्षेप के कारण ... मुद्राचलन और व्यापारिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में गांवों को खींचने की प्रक्रिया के साथ ही किसानों की तबाही की प्रक्रिया शुरू हो गयी है...दूसरी ओर, उपनिवेशों में ऐतिहासिक दृष्टि से देर से हो रहे औद्योगिक विकास ने सर्वहाराकरण की प्रक्रिया के लिए गंभीर बाधाएं पैदा कर दी हैं...पूंजीवाद ने उपनिवेश के गांवों को अपने कर और व्यापार के ढांचे का हिस्सा तो बना लिया है और इससे पूर्व पूंजीवादी संबंधों में बदलाव भी आया है (मसलन ग्रामीण सामूहिकता टूटी है); लेकिन, इतने भर से किसानों को पूर्व पूंजीवादी संबंधों और शोषण के बोझ से मुक्ति नहीं मिली है। सिर्फ इतना हुआ है कि इस सबको, मुद्रा की भाषा दे दी गयी है...किसानों को अपनी दयनीय हालत से उबरने में यही 'सहायता' मिली है कि (भारत और चीन के कुछ हिस्सों में) कर्जों के आधार पर पीढ़ी दर पीढ़ी की गुलामी की हालत और पैदा हो गयी है।[5]

1968 में राष्ट्रीय अखंडता के प्रश्न पर सी.पी.आइ. (एम) ने एक ज्ञापन दिया था। उस ज्ञापन में कहा गया था :

> हाल ही में आंध्र के कांचीकचारिया गांव में दिन दहाड़े एक हरिजन खेत मजदूर को जलाये जाने की बर्बर घटना पर संसद और सारे देश ने अपने गुस्से का इजहार किया। अनुसूचित जातियों, जनजातियों और दूसरे पिछड़े तबकों पर ढाये जा रहे जुल्मों की अनगिनत घटनाएं अखबारों में छपती रही हैं। ऐसा नहीं कि इस तरह की घटनाएं किसी खास इलाके या खास राज्य में ही

घटनेवाली अपनी तरह की अनहोनी और इक्का-दुक्का घटनाएं हों, इस तरह की घटनाएं देश भर में आम बात हो गयी हैं। ये घटनाएं छुआछूत, सामाजिक दमन और वहशीपन की उस पुरानी अमानवीय परंपरा का ही हिस्सा हैं जो आज आजादी के चालीस सालों के बाद भी, और अनुसूचित जातियों, जनजातियों संबंधी सारे कानूनों और कमीशनों के बावजूद, हमारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में चलती चली आ रही है। यह सब सामंती और अर्द्धसामंती भूस्वामित्व के विकास का और इसी सामंती जाति प्रथा और सामाजिक आधार से पैदा हुए 'नये अमीरों' के फलने फूलने और ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा जीवन पर उनके शिकंजे का परिणाम है। ये घटनाएं यही दिखाती हैं कि सरकार मध्ययुगीन सामंती-आर्थिक आधार को खत्म करने में नाकाम रही है। सरकार जमींदारी को खत्म करने, जोतनेवाले को जमीन देने और उसे जमीन व रोजगार, उचित मजदूरी और बेहतर जीवनस्थितियाँ (घर बनाने के लिए जमीन, शिक्षा और चिकित्सा सुविधाएं) मुहैया कराने में असफल रही है? ये घटनाएं यही बताती हैं कि सामुदायिक विकास, पंचायत राज, सहकारिता आदि के नाम पर कांग्रेस सरकार जिन नीतियों पर चल रही है उनसे ग्रामीण क्षेत्र के सामंती निहित स्वार्थों का शिकंजा और मजबूत होता जा रहा है। कहा तो यह जाता है कि ये नीतियां ग्रामीण जनता की बदहाली को दूर करने के लिए हैं, लेकिन उनके पीछे मकसद यही है कि, 'नये अमीरों' के रूप में बदल रहे पुराने सामंती-अर्द्धसामंती भूस्वामियों को ताकतवर बनाया जाय और ग्रामीण जीवन पर उनकी जकड़ और मजबूत की जाय। सारी राज्य-मशीनरी, खासकर पुलिस और कचहरी को इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। अत: इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं कि इस तरह के अत्याचार दिनों दिन बढ़ रहे हैं और सारे मानवीय मूल्यों और अच्छाइयों को पांवों तले रौंदकर ग्रामीण जीवन को पाशविक बनाया जा रहा है। हमें अचरज नहीं होगा कि किसी दिन इन अभागों का धैर्य चुक जाय और वे हताशा की कार्रवाइयों का सहारा लेने को मजबूर हों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर जातिवादी दंगे हों जिनके आसार अभी से दिखायी पड़ने भी लगे हैं। वर्तमान सांप्रदायिक तथा भाषायी दंगों के साथ-साथ जातिवादी और नस्लवादी दंगों की स्थिति भी पैदा हो सकती है। इस खतरे से बचने का एक ही रास्ता है कि इनके लिए न्यूनतम आर्थिक जीवन स्थितियों की गारंटी की जाए और पुराने सामंती, अर्द्धसामंती तथा 'नये अमीरों' के प्रभुत्व को खत्म

करके, जमीन व रोजगार मुहैया कराये जायं तथा सामाजिक समानता की स्थिति पैदा की जाय। जनवादी ताकतों तथा लोगों को सरकार पर यह दबाव डालना चाहिए, उसे मजबूर करना चाहिए कि वह ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों, हरिजनों तथा पिछड़े वर्गों के खिलाफ और ग्रामीण शोषकों के पक्ष में सरकारी मशीनरी का इस्तेमाल करने की अपनी वर्तमान नीति को तो छोड़े ही, इसके साथ ही साथ निहित स्वार्थों के खिलाफ उस मशीनरी का और अपनी पूरी शक्ति का इस्तेमाल करे और देश के ग्रामीण क्षेत्रों गे बुनियादी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करे।[6]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कम्युनिस्टों ने यह कभी नहीं कहा कि जाति, छुआछूत या सांप्रदायिकता का नजरिया दकियानूसी भूमि-व्यवस्था और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष चलाये बिना अपने आप खत्म हो जायेगा। उन्होंने कभी नहीं कहा कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के वर्ग संघर्ष से अलग-थलग होकर जातिव्यवस्था की आलोचना भर करने से उसके खिलाफ संघर्ष चलाया जा सकता है। वे जानते थे कि यह वर्ग-संघर्ष ऐसी जनता का संघर्ष था जो अभी जातिवादी पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं हुई थी और जिसे शोषितों के रूप में अपनी वास्तविक सत्ता को पहचान कर संघर्ष के दौर में एकताबद्ध होना था। यह वास्तविक और दृढ़ एकता उस क्रांतिकारी संघर्ष की प्रक्रिया में ही हासिल की जानी थी जिसमें बिना भेदभाव सभी की शिरकत होनी थी।

कम्युनिस्टों ने इस बात पर भी गौर किया था कि जातियों का तेजी के साथ बिखराव हो रहा है। हर जाति के भीतर संपत्तिहीनों के बीच विभाजन हो रहा है और बढ़ती गरीबी सभी जातियों के लोगों पर प्रभाव डाल रही है तथा कृषि में लगी लगभग [illegible] जाति गरीबी बढ़ने की इस प्रक्रिया की शिकार हुई है। इस तरह सभी जातियों के निचले तबकों के बीच एक नयी एकता पैदा हो रही थी। यही वह एकता थी जिसे समान हितों के संघर्षों के दौरान उभारने और मजबूत बनाने की जरूरत थी। इसलिए, यह जरूरी था कि जातिगत असमानताओं के खिलाफ लड़ते हुए इस आम एकता को अहमियत दी जाय। यहां जाति की जगह वर्ग को बैठाने या फिर जातिगत भेदभावों के अस्तित्व से इनकार करने और सिर्फ वर्गीय भेदों को ही मानने का सवाल नहीं है। सवाल सिर्फ उस ठोस वास्तविकता को पहचानने का है जिसमें जातिगत भेदभावों के अस्तित्व के साथ साथ शोषित वर्ग के रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया भी घटित हो रही थी यानी शोषितों के एक वर्ग के बनने की ही यह एक प्रक्रिया थी। जो लोग इस दुहरी प्रक्रिया को नहीं समझ सके वे सुधारवाद का शिकार हुए।

राष्ट्रीय एकता और जाति

राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास के साथ जातिवाद और फिरकापरस्ती के प्रति रवैये में बदलाव आना भी लाजिमी था। अपने झंडे के तले न्यूनतम आवश्यक एकता कायम करने के लिए, राष्ट्रीय पूंजीवादी नेतृत्व को जाति और असमानता के सवाल पर अपना अब तक चला आ रहा यथास्थितिवादी रवैया छोड़ना पड़ा। किसानों व निचले तबके की अनेक जातियों में बंटी ग्रामीण जनता को अपने साथ लेने की जरूरत ने पूंजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग को इस सवाल पर ज्यादा लचीला रुख अपनाने के लिए और अपने रवैये को उन जनवादी दावों के अनुरूप बनाने के लिए मजबूर कर दिया जिन्हें वे जनता की ओर से पेश कर रहे थे। जाति के खात्मे के बिना ही जातियों की समानता का प्रचार किया गया। राष्ट्रीय नेतृत्व को आमतौर पर जाति की और खासतौर पर छुआछूत की—दोनों ही समस्याओं का सामना करना पड़ा। सामंती भूमि-संबंधों के साथ समझौते के अपने नजरिये को कायम रखते हुए ही, पूंजीवादी नेतृत्व ने अपनी नीति तय की। यह नीति ऊपरी तौर पर पिछली नीति से भिन्न होते हुए भी, अपनी सारवस्तु में पिछली नीति के समान ही थी। गांधी ने घोषणा कर दी कि छुआछूत पाप है। उन्होंने कहा :

> छुआछूत को खत्म करना एक तपस्या का काम है। सवर्ण हिंदुओं को हिंदुत्व के प्रति और स्वयं अपने प्रति किये गये इस पाप को दूर करने के लिए यह तप करना होगा। जरूरत 'अछूतों' की शुद्धि की नहीं, बल्कि कथित सवर्णों की ही शुद्धि की है। ऐसा कोई दुर्गुण नहीं जो सिर्फ अछूतों में ही पाया जाती हो, यहां तक की गंदगी और सफाई की कमी का दुर्गुण भी नहीं। यह सिर्फ हमारा अहंकार है, जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले हम हिंदुओं को अपनी खुद की बुराइयों के प्रति अंधा बनाये हुए है और अपने उन उत्पीड़ित बंधुओं की बुराइयों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाता है जिन्हें हमने दमित किया है और आज भी कर रहे हैं। मुझे टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाय, यह मुझे मंजूर है लेकिन दलित वर्गों को मैं अपना न मानूं यह मंजूर नहीं। हिंदू अगर अपने महान धर्म पर से, छुआछूत का यह धब्बा नहीं हटाते तो वे कभी भी आजादी प्राप्त करने के योग्य नहीं हो सकते; कभी आजादी हासिल कर ही नहीं सकते। मैं हिंदू धर्म को अपने प्राणों से भी बढ़कर प्यार करता हूं। इसलिए यह धब्बा मेरे लिए, एक असह्य बोझ बन गया है अगर हम समानता के आधार पर एक साथ मिल बैठने के अधिकार से अपने लोगों की आबादी के एक पांचवे हिस्से को वंचित कर देंगे तो फिर हम ईश्वर में अपने विश्वास का ही निषेध करेंगे। हमें

ऐसा नहीं करना चाहिए।[7]

भाव विह्वल होकर दिये गये उक्त वक्तव्य में कहा तो सब कुछ गया है; मगर जमींदारों और हिंदू धर्म को सुरक्षित रखने के लिए समान तीव्र इच्छा इस वक्तव्य को औपचारिक घोषणा भर बनाकर छोड़ देती है।

राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग भूमि-संबंधों में बुनियादी बदलाव लाने की कल्पना भी करने में असमर्थ था। उसने समाज सुधार को ही राष्ट्रीय एकता के अपने संघर्ष का नारा बनाया। पूंजीवादी नेतृत्व के वर्गीय गठजोड़ ने राष्ट्रीय आंदोलन को शिक्षा, सामाजिक मेल-मिलाप, अंतर्जातीय भोजों और ''हम शुरू से आखिर तक भारतीय ही हैं'' जैसे वक्तव्यों आदि से आगे नहीं बढ़ने दिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग के अपने हित जातिवाद के खिलाफ लड़ाई छेड़ने के रास्ते में आड़े आते थे। इस रवैये और गठबंधन के मजबूत होने की एक वजह यह भी थी कि ज्यादातर नेता उच्च जातियों के ही थे। यहां यह सवाल उठता है कि फिर भी यह कैसे संभव हुआ कि अपनी सीमाओं और खुले तौर पर प्रतिक्रियावादी वर्गीय नीतियों के बावजूद, कांग्रेस जनता को अपने पीछे लामबंद करने और ब्रिटिश शासन को शिकस्त देने में कामयाब हो गयी? यह कैसे संभव हुआ कि विभिन्न निचली जातियों से संबद्ध किसान जनता के व्यापक हिस्से कांग्रेस में शरीक हो गये? राष्ट्रवाद और साम्राज्यवादविरोध की इस अपील ने उन तमाम किसानों को आकर्षित किया जिन्होंने अपनी तकलीफों का कारण देश में विदेशी शासन का होना माना। यह एक नयी वर्गीय वास्तविकता थी। यह साम्राज्यवादी शोषण से पैदा होनेवाली एकता की वास्तविकता थी जिसे कांग्रेस ने पूरी तरह इस्तेमाल किया और जो उसका विरोध करने के लिए आगे आये वे पूरी तरह पिट गये। पुराने सामंती शोषण के ऊपर आधुनिक साम्राज्यवादी शोषण के थोपे जाने से श्रेणीबद्ध जातिवादी ढांचे के बीच ही राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा हो रही थी।

साम्राज्यवादी ताकतें

जहां कांग्रेसी नेता विभिन्न जातियों और संप्रदायों को राष्ट्रीय झंडे के नीचे एकजुट कर रहे थे वहां ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी चुप नहीं बैठे हुए थे। ब्रिटिश शासकों ने, मुसलमानों, पिछड़े समुदायों और अछूतों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र, सरकारी नौकरियों में आरक्षण तथा शिक्षा संबंधी सुविधाएं देकर, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की इस योजना को असफल बनाने की चाल चली। उनका उद्देश्य पिछड़े हुए तबकों में उन्नति की उम्मीद जगाने, उन्हें आम संघर्ष से अलग करने व व्यापक जन

प्रतिरोध में बिखराव पैदा करने और पृथक जातियों तथा सांप्रदायिकता की भावना को बनाये रखने का था। उस समय मौजूद जातिवादी असमानताओं, सवर्ण हिंदुओं के हाथों अछूतों पर अमानवीय अत्याचारों और हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच की फिरकापरस्ती की दीवार ने साम्राज्यवादियों को अपना यह खेल खेलने का मौका दे दिया।

लेकिन, साम्राज्यवादी इस खेल को हमेशा–हमेशा तक जारी नहीं रख सकते थे। वे खुद, मौजूदा भूमि–संबंधों को बनाये रखने के दृढ़ समर्थक थे, इसलिए वे अछूतों या दलित वर्गों के स्तर में कोई वास्तविक बदलाव ला ही नहीं सकते थे। आम्बेडकर ने खुद यह चेतावनी दी थी :

> मुझे लगता है कि ब्रिटिश शासन इन दुर्भाग्यपूर्ण हालात का जो इस तरह प्रचार कर रहा है उसके पीछे मकसद यह नहीं है कि ये परेशानियां दूर हों। इसके पीछे कारण सिर्फ यह है कि उनकी यह चिंता भारत की राजनैतिक प्रगति को रोकने में अच्छी तरह मदद करती है। जहां तक आपका सवाल है, ब्रिटिश सरकार ने इस व्यवस्था को जैसा पाया था, उसी रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। सरकार उस व्यवस्था को उसी रूप में ज्यों का त्यों सुरक्षित रखे हुए है, जैसा कि एक चीनी दर्जी ने किया था जिसे नमूने के तौर पर पुराना कोट दिया गया तो उसने बड़े गर्व के साथ ठीक उसी की नकल पर थेगलियों की जगह थेगलियां व जोड़ों की जगह जोड़ लगाकर एकदम वैसा ही कोट बना दिया। आपकी तकलीफें कोई दूर नहीं कर सकता। आप खुद ही अपनी तकलीफें दूर कर सकते हैं। और आप उन्हें तभी दूर कर सकते हैं जबकि आपके हाथों में राजनैतिक सत्ता हो। इस सत्ता का कोई भी हिस्सा आपको तब तक नहीं मिल सकता, जब तक कि ब्रिटिश शासन ज्यों का त्यों कायम है। स्वराजी संविधान में ही आपको राजनैतिक सत्ता मिल सकती है, इसके बिना आप अपने लोगों की मुक्ति की आशा नहीं कर सकते।

यहां यह बात काबिले गौर है कि देश में तीन शक्तिशाली वर्गों के हित से जुड़े लोग, यानी साम्राज्यवादियों, जमींदारों और पूंजीवादी नेतृत्व से जुड़े लोग, जमींदारों और पूर्व पूंजीवादी भू–संबंधों की रक्षा करके जाति–प्रथा की ही हिफाजत में लगे हुए थे।

आजादी के बाद का समझौता

यह किस्सा आजादी के बाद भी जारी रहता है। अछूतों तथा दूसरे वर्गों के

अंदर थोथी आशाएं जगाने के मकसद से कुछ रियायतें देने के लिए प्रशासनिक तंत्र का इस्तेमाल अब नया शासक वर्ग भी कर रहा है। संविधान ने घोषणा कर दी है कि चाहे कोई किसी भी जाति का क्यों न हो कानून की नजरों में वह सबके समान है। संसद ने छुआछूत को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया है। लेकिन भूमि-संबंधों का बुनियादी ढांचा—जिसमें यदि बड़ा बदलाव होता तो जाति-व्यवस्था और छुआछूत को भारी धक्का लगा होता—अभी भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। इसलिए, नये शासक भी ब्रिटिश शासकों द्वारा अपनाये गये हथियारों का ही इस्तेमाल करते हैं जैसे नौकरियों में आरक्षण, कालेजों में दाखिलों में आरक्षण, सरकारी नौकरियों में उच्च पदों के लिए आरक्षण आदि।

पूंजीवादी-सामंती सरकारों के भूमि सुधार कानूनों का मकसद यही था कि पुराने संबंधों को उनकी नयी तात्कालिक जरूरतों के अनुसार ढाला जाय। कानूनी तौर पर तो जमींदारी खत्म हो गयी, लेकिन पुराना बुनियादी ढांचा और पुरानी असमानता बरकरार रही। जो कानून बनाये गये, वे भी लागू नहीं किये गये, भूमि सीमा कानून एक मजाक बनकर रह गया, कांग्रेस द्वारा पास किये गये कानूनों के बाद भूमि का केंद्रीकरण लगातार बढ़ता रहा है।

गोया, एक बार फिर वही स्थिति है, वर्गीय शासन और प्रशासन की पूरी ताकत उस आर्थिक ढांचे को बरकरार रखने में लगी हुई है जो जातियों और छुआछूत को जिंदा रखता है। राजसत्ता पर काबिज पूंजीपति-जमींदार गठजोड़, दावे तो लंबे-चौड़े कर सकता है मगर इन दावों के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकता। बहु प्रचारित 20-सूत्री कार्यक्रम की असफलता इसी सचाई को साबित करती है।

इस स्थिति में आम जनता का खुद इस तरह के रीति-रिवाजों का शिकार बना रहना और शोषित जातियों के आधार पर बंटा रहना स्वाभाविक है। आज उनके अपने बीच रोजाना जो नये आम रिश्ते पैदा हो रहे हैं उनको भूल रहे हैं। इसका अर्थ सिर्फ यही है कि सर्वहारा का जो एक नया वर्ग बन रहा है पूराने भूमि-संबंधों में बदलाव न होने के कारण उसके रूप ग्रहण की प्रक्रिया में देरी हो रही है और इसीलिए, ऊंच-नीच के भेद पर आधारित पुरानी विचारधारा की जकड़ आज भी बनी हुई है। आजादी के बाद से प्रभुत्वशाली वर्गों का हित चाहने वाले लोग जातिगत असमानताओं, छुआछूत और सांप्रदायिक नजरिये को बरकरार रखने की दिशा में ही काम करते रहे हैं।

जातिवादविरोधी धारा

लेकिन, उस दूसरी धारा का क्या हुआ जिसने जाति-व्यवस्था की असमानताओं पर सीधे हमला किया था। जो कई स्थानों पर तो कांग्रेस के मैदान में आने से पहले ही वजूद में थी ? इस भयावह जाति-व्यवस्था के खिलाफ साहस के साथ विद्रोह का झंडा बुलंद करने वाले इन आंदोलनों की इतनी दयनीय परिणति क्यों हो गयी ? किसी जमाने में देश में कम से कम उसके कुछ हिस्सों में उथल-पुथल मचा देने वाले ब्राह्मण विरोधी आंदोलनों ने शायद ही कहीं जातिप्रथा की जड़ें हिलाने में सफलता प्राप्त की हो। आम्बेडकर जैसे प्रख्यात नेता के नेतृत्व के बावजूद अछूतों के महान संघर्ष, छुआछूत के खात्मे के वांछित नतीजों तक पहुंचने में, नाकामयाब रहे। अछूतों पर अत्याचार आज भी जारी है, न तो इन संघर्षों से यह समस्या हल हुई और न धर्म-परिवर्तन के जरिये बौद्ध बन जाने जैसे शार्टकटों से। इससे बड़ी बिडंबना और क्या होगी कि नव बौद्धों के नेताओं को फिर से यह मांग करनी पड़ी कि पदों या नौकरियों के आरक्षण आदि के सिलसिले में उन्हें अनुसूचित जातियों का ही माना जाय।

तथाकथित निचले तबके या जातियां, दरअसल, हिंदू समाज का बहुसंख्यक हिस्सा हैं। तब फिर क्या वजह है कि यह बहुसंख्यक हिस्सा जातिगत असमानता के धब्बे को धोने और चंद ब्राह्मणों या सवर्णों के इस षड्यंत्र को शिकस्त देने में कामयाब न हो सका ? सचाई यह है कि जातिवाद का जहर, इससे उत्पीड़ित लोगों के दिमाग में, उस जनता और निचले वर्गों के दिमाग में जो पुनः अनेक जातियों और उपजातियों में बंटे हुए हैं, भीतर तक बैठ गया है। इनमें से हरेक अपने प्रति होने वाले अन्याय को तो पहचानता है। लेकिन अपने बेहतर स्तर की वजह से अपने से नीचे वाले के प्रति होने वाले अन्याय को दूर करने के लिए तैयार नहीं। महाराष्ट्र में ब्राह्मणविरोधी आंदोलन में निचली जातियों के सभी हिस्सों के शरीक होने की उम्मीद की जाती थी, लेकिन उसके बावजूद वास्तविकता यह थी कि अछूतों को उनके अपने हाल पर ही छोड़ दिया गया था। आम्बेडकर को भी एक बार तो यह कहना पड़ा था कि मराठा लोग ब्राह्मणों से कहीं ज्यादा अछूतों के उत्पीड़क हैं।

सच्ची बात तो यह है कि कांग्रेस का राष्ट्रीय पूंजीवादी नेतृत्व, जाति के प्रश्न पर अपने समझौता परस्त रुख और पुनरुत्थानवादी रवैये को अपनाकर भी इसीलिए सफल हो सका क्योंकि यह रवैया जनता की चेतना के अनुकूल था।

इस मामले में शुरुआती दौर के जातिवादविरोधी नेता बाद के कांग्रेसी नेताओं से बिल्कुल भिन्न थे। साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ

जाति-प्रथा और छुआछूत पर प्रहार करने वाली जनवादी लहर का उठना तो अवश्यंभावी था ही। ये दोनों एक ही प्रक्रिया के दो पहलू थे। यह प्रक्रिया दरअसल, पूर्व-पूंजीवादी संबंधों के बीच से एक नये राष्ट्र के बनने की प्रक्रिया थी।

जातिविरोधी गैर ब्राह्मण नेताओं द्वारा जाति प्रथा की असमानताओं और जातिवादी चेतना पर प्रहार दरअसल पुरानी सामंती व्यवस्था की विचारधारा और उसके ऊपरी ढांचे पर करारा हमला था। समाज को बदलने के लिए जरूरी था कि उस विचारधारा और चेतना पर प्रहार किया जाय, ऊपरी ढांचे को नंगा किया जाय, उसे कमजोर किया जाय। यह तर्क तो शायद ही कोई देगा कि आर्थिक स्थिति को धीरे-धीरे बदलने दो, नयी आर्थिक वास्तविकताओं को नये वर्गों को उभरने दो और उसके बाद जाति-व्यवस्था और जातिवादी चेतना अपने आप खत्म हो जायेगी।

कोई भी प्रतिक्रियावादी विचारधारा, अगर उसके खिलाफ संघर्ष न चलाया जाय, जनवादी और सामाजिक प्रगति की राह में आर्थिक वास्तविकता में बदलाव की राह में एक बाधा बन जाती है। वह परिवर्तन की गाड़ी में ब्रेक का काम करती है। भारत में जातिवादी प्रभुत्व तथा जातिवादी चेतना, ऐसे ही ब्रेक का काम कर रही थी और जनवादी क्रांतिकारी एकता को आगे बढ़ने से रोक रही थी। इसलिए जाति-व्यवस्था पर हमला करके, शुरू-शुरू के दौर के जातिविरोधी नेताओं ने एक शानदार काम किया था। यह कार्रवाई इसलिए और भी महत्वपूर्ण थी क्योंकि ऊंची जातियों में जन्मे अनेक राष्ट्रवादी समकालीन नेता, जो पूंजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग के एक दूसरे हिस्से का प्रतिनिधित्व करते थे, खुद भी अभी जातिवादी चेतना से मुक्त नहीं हुए थे और उनमें से कुछ, मसलन तिलक, तो इस व्यवस्था का जोर-शोर से समर्थन तक करते थे। याद रखने वाली बात है कि तिलक ने 'सहमति की आयु' (विवाह के लिए) संबंधी विधेयक का ही विरोध नहीं किया था बल्कि अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा संबंधी विधेयक का भी विरोध किया था। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस समर्थन, और आगे चलकर जाति-प्रथा से समझौते की जड़ में, बुद्धिजीवी वर्ग का सामंती-संबंधों के साथ समझौता और गठजोड़ ही था। इस संदर्भ में महाराष्ट्र के जातिवादविरोधी आंदोलन के विकास पर संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। इससे हम उसकी सीमाओं और उपलब्धियों को सही तरह से समझ सकेंगे।

ज्योतिबा फुले का आंदोलन

महाराष्ट्र में जात-पांतविरोधी आंदोलन की शुरुआत का इतिहास ज्योतिबा फुले के महान व्यक्तित्व से जुड़ा है। ज्योतिबा, जो कि गरीबों तथा उत्पीड़ित

जातियों के सच्चे हमदर्द, महान जनवादी तथा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति थे, दलितों के हितों को प्राथमिकता देने, उनके हित में अपनी सारी शक्ति लगा देने से कभी विचलित नहीं हुए। चाहे विधवा विवाह का सवाल हो या शिक्षा का, शराब की दुकानों का मसला हो या जातिवादी शोषण का, नौकरशाही के दमन का मसला हो या महाजनों की लूट तथा जमीन से किसानों की बेदखली का; भारत की आर्थिक लूट का मसला रहा हो या फिर आम जनता का पैसा फूंककर नया बाजार बनाने का या वायसराय के स्वागत के लिए सजावट करने तथा शाही मेहमान को भोज देने का; हर सवाल पर, हर मौके पर, उन्होंने बेहिचक और पूरी तरह निर्भय होकर आम जनता के हितों की रक्षा की। अछूतों के प्रति उनका भावात्मक लगाव अभूतपूर्व और बेमिसाल था और उनकी न्याय की धारणा सभी उत्पीड़ित जातियों पर समान रूप से लागू होती थी। जातिवादी भेद भावना तो उन्हें छू भी नहीं गयी थी। उन्होंने मुसलमानों तथा ईसाइयों के लिए भी समान दर्जे की मांग की। इसमें अचरज नहीं कि आंदोलन का मूल नाम 'सत्यशोधक' आंदोलन था; यह आंदोलन ब्राह्मणों की सर्वोच्चता पर आधारित हिंदू समाज–व्यवस्था के झूठ, अन्याय और दोगलेपन का विरोध करने वाला आंदोलन था। उन्होंने ब्राह्मणों और उनकी विचारधारा के खिलाफ अपना धर्म युद्ध छेड़ रखा था।

उस जमाने में, जबकि हिंदू जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, जातिवादी असमानता के विरुद्ध और सबकी समानता के लिए चलने वाले किसी भी संघर्ष की धार ब्राह्मणों के खिलाफ होनी स्वाभाविक ही थी। इसके साथ ही दूसरी कई बातें भी इस रुझान को मजबूत कर रही थीं। ज्योतिबा की पीढ़ी पेशवा बाजीराव द्वितीय के शासन के भयावह दिनों को भूल नहीं सकी थी। वाजीराव द्वितीय के दौर में जो स्थिति थी, उसके बारे में ज्योतिबा के जीवनी लेखक, कीर ने **लोकहितवादी** से यह उद्धरण दिया है : 'सूखे या अकाल के जमाने में भी अगर किसान उसे, उसका निश्चित हिस्सा नहीं दे पाते थे तो जलते हुए कड़ाहों से उबलता हुआ तेल उनके बच्चों के शरीर पर डाला जाता था। उनकी झुकी हुई पीठों पर कोड़ों की मार पड़ती थी और दम घोंट देने वाले धुएं में उनका सिर दे दिया जाता था। उनकी नाभि और कानों में बारूद के विस्फोट किये जाते थे।' **लोकहितवादी** के ही उद्धरण के अनुसार ब्रिटिश शासकों ने जब बाजीराव द्वितीय को गद्दी से हटाया था तो महिलाओं ने खुशियां मनायीं और कहा था कि "हमें खुशी है कि बाजीराव का शासन खत्म हो गया। उस बदमाश का ठीक ही हश्र हुआ, वह इसी लायक था।" दूसरी बात यह थी कि राजनैतिक सत्ता खो देने के बावजूद हिंदू समाज में

ब्राह्मणों का प्रभुत्व था और वे गैरब्राह्मणों को अपने से नीचा समझते थे। आखिरी बात यह थी कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जो बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हो भी रहा था, उसका बड़ा हिस्सा उच्च ब्राह्मण समुदाय से ही आता था। अफसरों, प्रोफेसरों, छोटे अधिकारियों, लेखकों, संपादकों के प्रायः सभी पदों पर इन्हीं का कब्जा था। इस स्थिति ने पुराने दिनों के लौटने का डर पैदा कर दिया था।

ज्योतिबा ने अपने जायज आक्रोश की धार निश्चय ही ब्राह्मणों के खिलाफ रखी। लेकिन उनका नजरिया सांप्रदायिक नजरिया न होकर शुरू से आखिर तक जनवादी रवैया था। इसीलिए वे ब्राह्मणवाद के पक्के विरोधी थे। ज्योतिबा और उनके विरोधियों के बीच समझौते की कोई गुंजाइश ही नहीं थी क्योंकि उनका संघर्ष असमानता पर आधारित हिंदू व्यवस्था में किसी एक समुदाय को जगह दिलाने तक सीमित नहीं था।

ज्योतिबा खुद भी नये बुद्धिजीवी वर्ग का हिस्सा थे। ऐसा नहीं था कि बुद्धिजीवी वर्ग का उभार तथा जनवादी रुझान सिर्फ ऊँची जातियों तक ही सीमित रहा हो। समाज के निचले हिस्सों में भी उफान आ रहा था। ज्योतिबा इसी लोकधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। यह धारा लोकधारा इसलिए थी क्योंकि इसका सीधा संबंध हिंदू समाज के निचले तबके से, यानी किंसानों से था। उनकी राजनैतिक समझ वही थी जो बुद्धिजीवी वर्ग के दूसरे हिस्सों की थी। हिंदू सामाजिक ढांचे के खिलाफ समझौताहीन संघर्ष के मामले में ही बुद्धिजीवी वर्ग के बाकी तबकों से उनके तीव्र मतभेद थे। उन्होंने अछूतों के हितों की रहनुमाई की, ब्राह्मणों के प्रभुत्व पर हमला किया, जातियों की उत्पत्ति का और आर्य धारणा का भंडाफोड़ किया, उन्होंने सबकी पूर्ण समानता की मांग की, मुसलमानों तथा ईसाइयों के प्रति समानता के बर्ताव की मांग रखी, निचले से निचले तबके के लिए शिक्षा की मांग की और पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच समानता पर जोर दिया; यानी, कुल मिलाकर उन्होंने असमानता पर आधारित पुरानी व्यवस्था के खिलाफ खुले युद्ध की घोषणा कर दी। समानता और एकता का उनका यह कार्यक्रम निश्चय ही लखनऊ में हुए हिंदू-मुस्लिम समझौते या गांधीवादी-राष्ट्रीय-एकता कार्यक्रम के मुकाबले कहीं ज्यादा प्रगतिशील था। हां! यह जरूर था कि इस कार्यक्रम को शुरू करने वाले को भी इसका पता नहीं था कि इस तरह के कार्यक्रम को सामंती भूमि संबंधों और औपनिवेशिक शासन को क्रांतिकारी तरीके से खत्म किये बिना पूरा नहीं किया जा सकता। उनका खयाल था कि ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा तथा जात-पांत विरोधी चेतना के प्रसार और ब्राह्मणवादी प्रभुत्व तथा ब्रिटिश शासन के अंतर्गत उन्नति करने के

साधनों पर उच्च जातियों के इजारे के खिलाफ संघर्ष चलाकर ही इस कार्यक्रम को सफल बनाया जा सकता है। इसलिए यह आकस्मिक नहीं था कि बाद के गैरब्राह्मण नेताओं में इस कार्यक्रम के प्रति उतना उत्साह नहीं रह गया। इसकी वजह यही थी कि यहां से आगे बढ़ना तभी संभव था जबकि गांवों में प्रभुत्वशाली जातियों तथा वर्गों की जमीन पर इजारेदारी पर, हमला बोला जाय और इन वर्गों में गैर-ब्राह्मण भी आते थे।

विचारधारात्मक दृष्टि से ज्योतिबा का कार्यक्रम हिंदू समाज के हर क्षेत्र में जनतांत्रिक मूल्यों की दृढ़ता से लागू करने का कार्यक्रम था। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि यह कार्यक्रम सामंती भूमि संबंधों पर आधारित प्राचीन सामंती ऊपरी ढांचे के खिलाफ समझौताहीन हमला बोल रहा था। इस लिहाज से ऊंची जातियों के बुद्धिजीवियों और ज्योतिबा के बीच भारी अंतर था। जहां ऊंची जातियों के बुद्धिजीवी ब्रिटिश शासन पर हमला करने के साथ-साथ देशी प्रतिक्रियावाद, उसके सामंती आधार और ऊपरी ढांचे से गठजोड़ कर रहे थे। वहीं ज्योतिबा ने इस ऊपरी ढांचे के विरुद्ध समझौताविहीन रुख अपनाया और उसे पूरी तरह नेस्तनाबूद करने की मांग की। यदि परिस्थितियां थोड़ी और अनुकूल रही होतीं तो संभव था कि उनका यह संघर्ष उन्हें बुनियादी भूमि संबंधों को चुनौती देने के स्तर तक पहुंचा देता।

ज्योतिबा की मृत्यु के बाद इस आंदोलन का सर्वव्यापी चरित्र कायम नहीं रह सका। इस सचाई को इस तथ्य से ही समझा जा सकता है कि इस आंदोलन का नेतृत्व बाद में कोल्हापुर के महाराजा के हाथ में आ गया था जो कि एक सामंती राजा थे। उन्होंने मांग की कि हमें भी क्षत्रिय माना जाय। यह मांग इस आंदोलन के नये समझौतावादी दौर की ही सूचक थी। ज्योतिबा की मृत्यु 1896 में हुई और उसके दस साल के अंदर इस नये नेता ने मराठों के वेदोक्त अधिकारों (क्षत्रिय के रूप में मान्यता) के लिए संघर्ष शुरू कर दिया था। बाद के बीस सालों के अंदर-अंदर यह आंदोलन अपना वास्तविक चरित्र खोकर अपने से ठीक उलट स्वरूप धारण कर चुका था, अब सिर्फ ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों को लेना बाकी था। बाद में इस आंदोलन में एक नया समझौतावाद पनपने लगा जिसके कारण यह आंदोलन ऊंच-नीच पर आधारित हिंदू व्यवस्था में अपने समुदाय, खास तौर पर मराठों के लिए बेहतर स्थान पाने के लिए और आगे चलकर ब्रिटिश शासन में उनके लिए पद तथा विशेष कृपा प्राप्त करने के चक्कर में ही फंस गया।[9]

उक्त आंदोलन के नजरिये में आये इस परिवर्तन के साथ ब्राह्मणविरोध महज

ब्राह्मणविरोध की लफ्फाजी बनकर रह गया। असलियत में वह ब्राह्मणवादविरोधी नहीं रह गया था। यह आंदोलन अब मुख्यत: नये समाज में, निचले तबकों में पैदा हो रहे नये बुद्धिजीवी वर्ग को भी स्थान दिलाने का आंदोलन भर बनकर रह गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि वे अपने ब्राह्मणविरोधी संघर्ष के लिए ब्रिटिश शासकों पर निर्भर हो गये। सच तो यह है कि इसकी वजह से ब्राह्मणविरोधी नेतृत्व ने तीसरे दशक में उठी साम्राज्यवादविरोध की पहली लहर का विरोध किया था। नतीजा यह हुआ कि जब एक ओर देश भर के अनेक शहरों और गांवों के हजारों लोग जलियांवाला बाग के हत्याकांड के विरुद्ध रोष की आग में जल रहे थे और जब बंबई का मजदूर वर्ग वेल्स के राजकुमार की यात्रा के विरुद्ध जुझारू प्रदर्शन कर रहा था, तब दूसरी ओर, कोल्हापुर के महाराजा पुणे में ब्रिटिश युवराज के स्वागत के लिए बड़ी संख्या में किसानों को इकट्ठा करके लाये थे जिसे शिवाजी-स्मारक का शिलान्यास करने का सम्मान दिया गया था।

जाहिर है कि साम्राज्यवादीविरोधी संघर्ष से यह अलगाव बहुत लंबे अरसे तक कायम रहनेवाला नहीं था। इस आंदोलन में इतनी जीवन शक्ति तो थी कि वह अपने उस पतन से उबर सके। इस आंदोलन पर तो यह बात इसलिए खास तौर पर लागू होती थी क्योंकि वह किसानों से जुड़ा हुआ आंदोलन था और तीसरे दशक का किसान अब पहलेवाला किसान नहीं रह गया था। 1930 तक जब कांग्रेस का नया नया आंदोलन गांवों तक पहुंचना शुरू हुआ था ब्राह्मणविरोधी आंदोलन के प्रगतिशील तथा जुझारू तत्व राष्ट्रीय आंदोलन से अपने इस अलगाव से उबर चुके थे। वे इस राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो गये थे और पुराना वाला आंदोलन कांग्रेस में ही मिल गया था।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजों के रहमो-करम पर निर्भर रहने या राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करने से यह स्थिति कहीं बेहतर थी। लेकिन यह जरूर है कि ज्योतिबा ने जो समग्र विद्रोह छेड़ा था उसको आगे बढ़ाने के अनुरूप यह सिलसिला नहीं था। ऊंच-नीच पर आधारित हिंदू व्यवस्था के पूरी तरह खात्मे के उनके कार्यक्रम को अमल में लाने का तो एक ही तरीका था कि इस कार्यक्रम को सामंती तथा अर्द्धसामंती संबंधों के खात्मे और जनवादी जनता के हाथों में राजनैतिक सत्ता देने के कार्यक्रम से जोड़ा जाता, संक्षेप में, इसे जनवादी क्रांति को सफल बनाने के कार्यक्रम का अंग बनाया जाता। न तो कांग्रेस का समझौतापरस्त नेतृत्व ही यह कर सकता था और न ब्राह्मणविरोधी आंदोलन का नया देशभक्त नेतृत्व। आखिर दोनों का वर्ग चरित्र तो एक ही था। इसका नतीजा यही

हुआ कि यह नेतृत्व हर मोर्चे पर आगे बढ़ने के बजाय पीछे की ओर खिसकने लगा और जनता को पूंजीवादी नेताओं के पीछे लामबंद करने में अपनी मदद पहुंचाने लगा। जनता की स्वतंत्र क्रांतिकारी कतारबंदी की जो आशा आंदोलन के अगुआ ने जगायी थी, वह गायब हो गयी। वह आंदोलन जो क्रांतिकारी संघर्ष के लिए किसानों को स्वतंत्र रूप से लामबंद कर सकता था पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में चला गया।

भूस्वामी वर्ग के हित

ब्राह्मणविरोधी आंदोलन के कांग्रेस में विलय हो जाने के कारण क्या थे? इसके कारण दो थे। पहला तो यह कि किसान जनता से जुड़ा हुआ नेतृत्व देश में उठी साम्राज्यवादविरोधी लहर को महसूस कर रहा था। जब किसान जनता इस राष्ट्रीय आंदोलन में शिरकत कर रही थी तो नेताओं को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग थलग रहने का रवैया त्यागना ही पड़ा। दूसरी वजह यह थी कि यह आंदोलन एक स्वतंत्र रास्ता तभी अख्तियार कर सकता था जब वह उन पूर्व पूंजीवादी भूसंबंधों के मूल पर चोट करता जो कि किसानों के शोषण और जातिगत असमानता के जन्मदाता हैं। कांग्रेसी बुद्धिजीवियों की ही तरह ब्राह्मणविरोधी आंदोलन के बुद्धिजीवी भी इसके लिए तैयार नहीं थे।

इस मामले में जातियों का भेद गायब हो गया था। गैरब्राह्मण बुद्धिजीवी, जो कि पश्चिमी शिक्षा तथा पूंजीवादी हालात की उपज थे, ठीक उसी तरह व्यवहार करने लगे जैसे समझौतापरस्त पूंजीवादी बुद्धिजीवी करते हैं वे बिल्कुल उन्हीं की तरह हो गये। आंदोलन के महान पुरस्कर्त्ता के समझौताहीन सिद्धांतों को उन्होंने त्याग दिया और कांग्रेस में मिल गये। बाद में वे कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में मंत्री बन गये और जनता का दमन करने लगे। उन्होंने जाति व्यवस्था को बरकरार रखा। इससे साफ है कि किसी व्यक्ति के इरादे कितने ही जातिविरोधी क्यों न हों, भूस्वामी हितों के साथ समझौता परस्ती रखने वाली उसकी पूंजीपति वर्ग-दृष्टि किसी भी बुनियादी सुधार की इजाजत नहीं देती। आजादी के बाद का हमारा अनुभव बताता है कि ये मंत्रिमंडल, जिनमें बहुसंख्यक गैरब्राह्मण बुद्धिजीवी रहे हैं और जिनमें जहां तहां अछूतों को भी मंत्रिपद पर रखा गया है, कांग्रेस की पुरानी परंपराओं पर ही चलते रहे हैं और जाति व्यवस्था के खात्मे के लिए उन्होंने शायद ही कुछ किया हो। दमन उत्पीड़न, खास तौर पर अछूतों का दमन उत्पीड़न, चाहे महाराष्ट्र हो या कोई और जगह, कतई कम नहीं हुआ है।

जात-पांतविरोधी आंदोलन अगर कृषि-क्रांति के आंदोलन से अलग-थलग रखा जायेगा और अगर यह आंदोलन साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन से भी अलग-थलग रहेगा तो इसकी क्या दशा होगी, इसे जातिविरोधी-आंदोलन के महान नेता, पेरियार ई वी रामास्वामी की जीवन यात्रा से बखूबी समझा जा सकता है।

रामास्वामी शुरू-शुरू में कांग्रेस के साथ जुड़े हुए थे और उस दौर में उन्होंने आजादी के लिए अभियान छेड़ा हुआ था। लेकिन, कांग्रेस नेताओं के जातिवादी पूर्वग्रहों के कारण उन्हें उनसे घृणा हो गयी और वे कांग्रेस के खिलाफ हो गये। इस तरह, साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन से कटकर वह उससे दूर ही होते चले गये। कभी-कभी उन्होंने कृषि संबंधों के विरुद्ध चल रहे संघर्ष के साथ खुद को जोड़ा, मगर वह फिर उन्हीं गठजोड़ों और तौर-तरीकों में फंस गये जिनसे उन्हें अपने वांछित लक्ष्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती थी। मार्गरेट रौस बर्नेट की किताब ''द पालिटिक्स आफ कल्चरल नेशनलिज्म इन साउथ इंडिया'' (दक्षिण भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की राजनीति) की समीक्षा करते हुए एन राम ने जातियों के खात्मे की दिशा में पेरियार की विकास यात्रा को इन शब्दों में दिया है :

> एक युवक के रूप में उन्होंने जात-पांत पर आधारित सामाजिक व्यवहार के नियम बहादुरी के साथ तोड़े। एक नौजवान के रूप में उन्होंने संन्यास और धर्म में समस्याओं के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हल खोजे, मगर नाकाम हुए। उन्होंने एक पक्के कांग्रेसी के तौर पर तहेदिल से आजादी तथा समाज-सुधार के लिए काम किया और स्वाधीनता आंदोलन तथा सामाजिक सुधार आंदोलन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के कारण अपनी व्यक्तिगत संपत्ति का एक हिस्सा खर्च कर दिया। उन्होंने कांग्रेस के उच्च जातीय रवैये तथा सामाजिक रूढ़िवादिता के खिलाफ समाज सुधार का झंडा बुलंद किया। उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा के बाद थोड़े से समय तक ही सही, कम्युनिज्म का अभियान भी चलाया और जमींदारी प्रथा के विरुद्ध एक सम्मेलन का आयोजन किया। फिर उनका ऐसा दर्दनाक पतन हुआ कि वह सैल्फ रेस्पेक्ट लीग (आत्मसम्मान लीग) के नेता के तौर पर राष्ट्रविरोधी जस्टिस पार्टी से गठबंधन के जाल में फंस गये। उन्होंने पृथकतावादी आंदोलन के नेता और प्रचारक के रूप में द्रविड़नाडु की मांग की और उत्तर भारतीयों के प्रभुत्व तथा हिंदी के थोपे जाने के विरुद्ध अभियान चलाया। उन्होंने जस्टिस पार्टी के नेता के तौर पर जनता के बीच अपनी सारी साख को धूल में मिला दिया। उन्होंने द्रविड़ कषगम के संस्थापक नेता के तौर पर राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद

का साथ दिया। उन्होंने सत्ता हस्तांतरण के मौके पर आजादी का विरोध करके खासी दयनीय स्थिति झेली। उन्होंने स्वाधीनता दिवस को 'शोक दिवस' का नाम दिया और 'ब्राह्मण राज' से मुक्ति की मांग की। उन्होंने नवनिर्मित पार्टी द्रविड़ सुनेत्र कषगम का समर्थन किया और सी. राजगोपालाचारी के नेतृत्व में कायम हुए कांग्रेस-मंत्रिमंडल का घोर विरोध किया। उन्होंने 'कामराज कांग्रेस' को सच्चे तमिल हितों का रक्षक बताकर उसका समर्थन किया। उन्होंने सत्ता में आने पर डी एम के का समर्थन किया। उन्होंने एक मूर्तिभंजक के रूप में अपने दीर्घकालीन जीवन के अंतिम चरण में आदर्श के रूप में स्थापित तमिल भाषा तथा तमिल संस्कृति का विरोध किया। वह वर्गीय विश्लेषण से तथा आर्थिक राजनैतिक परिवर्तन के वैज्ञानिक सिद्धांत से कटे हुए समाज सुधार के लड़ाकू प्रचारक भी रहे।[10]

इसमें कोई शक नहीं कि जाति के विरुद्ध भावना पैदा करने में श्री पेरियार कामयाब जरूर हुए और छुआछूत को दूर करने के लिए भी उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की, लेकिन साफ है कि ये काम ऐसे पूरे होने वाले नहीं थे। बिल्लुपुरम के दंगे, जिनमें अनेक अछूतों की जानें गयीं, हाल के ही उदाहरण हैं। यहां यह भी ध्यान दिलाना गैर जरूरी नहीं होगा कि डी. एम. के. के ही शासन के दौर में तंजावूर के जालिम जमींदारों के गुंडों ने हरिजन खेत मजदूरों की झोंपड़ियों में आग लगाकर 70 से ज्यादा औरतों और बच्चों को जिंदा जला डाला था। जिन लोगों पर इन नृशंस हत्याओं का अभियोग लगा था उन्हें बरी कर दिया गया था।

आम्बेडकर

वर्तमान सरकार और इससे पिछली सरकारों के शासन में अछूतों पर जिस तरह के बर्बर अत्याचार होते रहे हैं, उनसे यही पता चलता है कि किस तरह आजादी के तीस साल बाद भी पुराने अत्याचार, पुराने अन्याय, जारी हैं। अछूतों के हितों के लिए अथक संघर्ष चलाने वाले महान योद्धा, आम्बेडकर ने अपने शुरुआती दौर में सवर्णों के पाखंड का भंडाफोड़ किया था। कांग्रेस की अच्छी तरह खबर ली थी और आगे चलकर अछूतों के लिए जमीन तथा अलग कालोनियों की मांग रखी थी, मगर, दरअसल, ये सब चीजें कृषि क्रांति के बिना हासिल नहीं की जा सकती थीं। हालांकि दूसरी जातियों पर अछूतों की भूदासों जैसी निर्भरता के खात्मे के लिए, सभी अछूतों को जमीन दिलाने का विचार बिल्कुल सही था, मगर यह उद्देश्य तो सभी भूमिहीनों के संयुक्त संघर्ष के जरिये ही पूरा हो सकता था।

आगे चलकर उन्होंने अपने अनुयायियों में बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के लिए कहा ताकि हिंदू समाज के अन्यायों से मुक्त हुआ जा सके। लेकिन उनके बौद्ध धर्म में प्रवेश कर जाने से असमान भूमि-संबंधों पर आधारित भयावह सामाजिक वास्तविकता में कोई तब्दीली नहीं आयी। अत्याचारों की हाल की ही घटनाएं इस बात का सबूत हैं कि प्रेम और समता की खोज में कामयाबी हासिल नहीं हो पायी है। स्थिति का सबसे दुखद पहलू यह रहा है कि सबसे दमित तबकों के बीच से आने वाले बुद्धिजीवी भी, समानता की औपचारिक घोषणाओं जैसे कुछ ज्यादा नौकरियों या सीटों के आरक्षण, शिक्षा संबंधी सुविधाओं आदि से आगे नहीं देख सके। वर्तमान सामाजिक आर्थिक ढांचे को तोड़ने का विचार, उनकी चेतना का हिस्सा नहीं बन सका है। भूमि-संबंधों के खिलाफ, अन्य शोषितों के साथ मिलकर संयुक्त लड़ाई लड़ने का विचार उनके दिमाग में अभी उठा ही नहीं है। इन तबकों से आने वाले बुद्धिजीवियों ने भी देर-सबेर पूंजीवादी लोकतंत्र के ढांचे को स्वीकार कर लिया है और भूमि तथा उद्योग के मौजूदा संपत्ति संबंधों पर सवाल उठाये बिना ही जनवादी अधिकारों की आम घोषणाओं से खुद को संतुष्ट कर लेते हैं।

कांग्रेसी नेताओं और उनके पाखंड के खिलाफ, आम्बेडकर जैसा तीखा तथा निरंतर आक्रमण किसी ने शायद ही किया हो। इसके बावजूद वह हमारे संविधान के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे। यह वही संविधान है जिसे अभी तक कांग्रेस, लोकतंत्र का बेमिसाल नमूना कहकर उसकी तारीफ करते नहीं अघाती। यह वही संविधान है जिसके अंतर्गत अछूतों के घर जलाये जाते हैं, उनके घर लूटे जाते हैं, उनकी औरतों के साथ बलात्कार किया जाता है, उनकी हत्याएं होती हैं, अचरज की बात नहीं है अगर आम्बेडकर को महसूस हुआ हो कि उन्हें धोखा दिया गया है।

मजदूर वर्ग

इन स्थितियों के चलते, मजदूर वर्ग तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन के उभार का, व जातिवाद और सांप्रदायिकता के विरोध में कम्युनिस्टों के प्रचार का लोगों पर असर बहुत कम पड़ सका। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाला किसान आंदोलन काफी कमजोर रहा है और कृषि-क्रांति की जरूरतों की तुलना में आज भी कमजोर ही है। जातिगत भेदों के खात्मे तथा विभिन्न जातियों के बीच की समानता का आधार तो सबका शोषण करने वाले शत्रु वर्ग के खिलाफ व्यापक और जोरदार संघर्ष चलाने के दौर में ही विकसित हो सकता है। इस तरह की व्यापक एकता तेलंगाना में हुए उस सशस्त्र संघर्ष के दौरान पैदा हुई थी जिसमें हरिजन खेत मजदूर

और सवर्ण किसान, एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर लड़े थे। कृषि-क्रांति पर अगर कम्युनिस्ट जोर देते हैं तो वे इसके जरिये जातिवाद के आधार को, उसके गढ़ को भी; नेस्तनाबूद करना चाहते हैं।

मजदूर वर्ग जो आज भी काफी हद तक जमीन से जुड़ा हुआ है, पूरी तरह से एक आधुनिक वर्ग की भूमिका नहीं अदा कर पाया है। यह वर्ग अपनी असली शक्ल अख्तियार करने के दौर में है, लेकिन इसने रोजमर्रा के संघर्षों में, हड़तालों में शिरकत करने वाले सभी समुदायों व सभी जातियों के अपने लोगों को वर्ग के रूप में संगठित करने की भारी क्षमता का परिचय दिया है। इसी वर्गीय चेतना ने, जाति या संप्रदाय के आधारों पर ट्रेड यूनियनों को संगठित करने की कोशिशों को बार-बार शिकस्त दी है। शुरू के वर्षों से लगातार जातिवाद तथा सांप्रदायिकता के विरोध में कम्युनिस्टों द्वारा किये गये प्रचार ने इस वर्गीय एकजुटता को पैदा करने में मदद की है।

सुधारवादी प्रभाव

इस सबके बावजूद जातिगत तथा सांप्रदायिक भेदभाव अभी तक बरकरार हैं और प्रतिक्रियावादी उद्देश्यों के लिए उनका इस्तेमाल किया जा सकता है।

इसके अलावा, शहरों में तथा मजदूरों के बीच इस दिशा में की गयी प्रगति के धीमे होने के दूसरे कारण भी हैं। मजदूर वर्ग का एक अच्छा खासा, यहां तक कि एक बड़ा हिस्सा, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग और उसके समर्थकों के वैचारिक प्रभाव में रहा है। हड़तालों तथा संघर्षों को चलाते हुए वे समाज के भीतर के वर्गीय संबंधों, राजसत्ता तथा सरकार के वर्गीय चरित्र को छिपाने का खास तौर पर ध्यान रखते हैं और इस तरह संयुक्त संघर्षों को घटाकर शुद्ध अर्थवाद में परिणत कर देते हैं। इसके अलावा, किसानों तथा दमित वर्गों की हालत से मजदूर वर्ग पूरी तरह से उदासीन है। ये दोनों चीजें मिलकर जातिवादी प्रभाव से मजदूर वर्ग की मुक्ति का रास्ता रोकती हैं।

जो भी हो, यह तो मानना पड़ेगा कि किसी हद तक जातिवाद तथा सांप्रदायिकता के खिलाफ विचारधारात्मक संघर्ष की उपेक्षा होती रही है। जहां तक सी पी आइ (एम) का सवाल है, उसने अपने अभी हाल के प्लेनम में, सामंती तथा अर्द्धसामंती विचारधाराओं के खिलाफ लड़ाई को फिर से बड़े पैमाने पर शुरू करने का फैसला किया है। इस तरह के संघर्ष के बिना तथा जातिवादी उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना, आर्थिक संघर्षों के बीच पैदा होने वाली आम चेतना

को आगे नहीं ले जाया जा सकता। इस विचारधारात्मक संघर्ष को, भूमि संबंधों सहित, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव की जरूरत के साथ तो जोड़ना ही होगा। इसके अलावा इस संघर्ष को तभी सफल बनाया जा सकता है जबकि आमतौर पर धर्म तथा खास तौर पर हिंदू धर्म की सामाजिक-आर्थिक भूमिका को ठीक तरह से मजदूर वर्ग के सामने रखा जाय। आज जाति-व्यवस्था के खात्मे के सवाल को, इस जमाने के उस मुख्य संघर्ष से अलग-थलग करके हिंदू समाज के सुधार के सवाल की तरह पेश नहीं किया जा सकता जो कृषि-क्रांति का संघर्ष है, जो इज़ारेदारों और साम्राज्यवादियों द्वारा किये जा रहे शोषण के खात्मे का संघर्ष है, जो समाजवाद की ओर ले जाने वाले जनता के जनवादी राज्य की स्थापना का संघर्ष है।

हमारे दौर के मुख्य वर्ग संघर्ष से काटकर, जाति विरोधी संघर्ष चलाने की जितनी भी कोशिशें हुई हैं, नाकाम रही हैं और उनकी उपलब्धि बहुत ही अल्प रही है। यह एक बार फिर साबित हो गया है कि जातिवाद विरोधी संघर्ष को अलग-थलग करके नहीं चलाया जा सकता, इस संघर्ष को वर्तमान दौर के जनवादी आंदोलन तथा वर्ग-संघर्ष का हिस्सा बनाकर ही चलाना होगा। जाति पर आधारित असमानता और अन्याय आज आधुनिक वर्गीय अन्याय का अविभाज्य हिस्सा बन चुके हैं। इन अन्यायों के खात्मे के लिए सारे शोषित तबकों की, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, एकजुट होकर लड़ना होगा।

शुरू-शुरू में यह काम मुश्किल लग सकता है क्योंकि जब एक अछूत जिसे कि गैरअछूत गरीब किसान के साथ एकजुट होना है उससे मिलता है तो उसे अक्सर वह गरीब किसान या तो जमींदार की या किसी ऊंची जाति की नुमाइंदगी करने वाले एक आक्रामक व्यक्ति जैसा दीखता है। इसी बिंदु पर किसान आंदोलन की भूमिका महत्वपूर्ण हो उठती है जिसके तहत किसान वर्ग के आम दुश्मन, जमींदार आदि के खिलाफ, अछूतों, खेतमजदूरों, गरीब किसानों आदि को एकजुट होना है। इस संघर्ष के दौरान ही जातियों के बीच के फासले खत्म होंगे। जातिव्यवस्था के विरोध में प्रचार और किसानों की शिक्षा इस काम में मदद पहुंचाएगी।

नयी स्थिति

आजादी के बाद के तीस सालों ने और इस दौरान के कांग्रेस शासन ने एक नयी स्थिति पैदा कर दी है यह स्थिति चिल्ला-चिल्लाकर बता रही है कि ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष तेज हुआ है और उसे जमींदार व उनके पिट्ठू तथा पूंजीवादी-

सामंती सरकारें जातियों के बीच परस्पर संघर्ष का रूप देने में लगी हुई हैं।

पूंजीवादी रास्ते पर चलने के कारण आजादी के बाद के तीस सालों में ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही क्षेत्रों में गरीबी और बेकारी भयानक रूप से बढ़ी है। लाखों लाख लोग जो जाति के हिसाब से कुछ भी रहे हों, आज तबाह हो रहे हैं जबकि दूसरी ओर, जमीन और पूंजी चंद हाथों में इकट्ठी हो रही है। कांग्रेसी शासन के तीस सालों के 'भूमिसुधारों' और बड़े पैमाने पर बेदखलियों के परिणामस्वरूप अछूतों के अलावा भूमिहीनों की अपार संख्या भी दिखायी दे रही है। पांचवी योजना के मसौदे में लिखा है :

> रिजर्व बैंक के आकड़ों के अनुसार, ग्रामीण परिवारों की संपत्ति (मुख्य खेती की जमीन) के कुछ हाथों में केंद्रित होने का अनुपात 1960-61 में 0.65 था जो 1971-72 में बढ़कर 0.66 हो गया। 1971-72 में ग्रामीण परिवारों के सबसे गरीब 10 प्रतिशत के पास कुल संपत्ति का 0.1 प्रतिशत हिस्सा था जबकि सबसे संपन्न 10 प्रतिशत के पास कुल संपत्ति का आधे से ज्यादा हिस्सा था यही हाल 1961-62 में भी था।[11]

इस तरह की संपत्ति के चंद हाथों में इकट्ठा होने का मतलब यही है कि आदिवासियों तथा अछूतों के पास जो कुछ जमीन थी भी उसके छिन जाने के अलावा सभी जातियों के किसानों की बड़ी भारी संख्या को अपनी जमीनों से हाथ धोना पड़ा है।

गरीब लोगों से उनके उत्पादन के साधनों को छीनना पूंजीवादी रास्ते की विशेषता है इससे आज हजारों लोग तबाह होकर सड़कों पर मारे मारे फिर रहे हैं। उक्त योजना के मसौदे में यह भी लिखा है :

> ग्रामीण श्रमशक्ति को पूरा रोजगार न मिलने की वजह है ... प्रतिद्वंद्वितापूर्ण आधुनिक उद्योगों द्वारा, दस्तकारों तथा शिल्पियों को लगातार उखाड़ फेंका जाना। इसी तरह शहरी बेरोजगारी सिर्फ उद्योगों से निकाले गए मजदूरों, श्रमशक्ति में शामिल होनेवाले नये लोगों तथा आस पास के ग्रामीण क्षेत्रों से उखड़कर आनेवाले मजदूरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि 'अनौपचारिक क्षेत्र' में लगे खुद रोजगार तथा आकस्मिक रोजगार के जरिये अपनी जीविका कमाने वाले लोग भी इसमें शामिल हो रहे हैं ... भारत में गरीबी की स्थिति का हिसाब लगाने की कोशिशें की गयी हैं और इसके लिए इस्तेमाल किए गए भिन्न-भिन्न आधारों पर, कुल आवादी का 40 से 60 प्रतिशत हिस्सा न्यूनतम स्वीकार्य स्तर से नीचे की जिंदगी गुजार रहा है। कैलोरी उपभोग का

> आधार बनाकर हाल ही में रखे गये एक अनुमान के अनुसार, 1977–78 में, ग्रामीण क्षेत्रों में 48 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों में 41 प्रतिशत गरीबी की रेखा से नीचे जिंदगी बसर कर रही है। इस आधार पर गरीबों की कुल संख्या करीब 29 करोड़ होगी।[12]

दरअसल, गरीबों की वास्तविक संख्या इस अनुमान से कहीं बहुत अधिक बैठेगी, क्योंकि यह अनुमान तो गरीबी की रेखा की मनमानी परिभाषा पर आधारित है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, शहरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी पहले ही विस्फोटक हालत में पहुंच चुकी है। शहरी क्षेत्रों में रोजगार दफ्तरों में रजिस्टर्ड बेरोजगारों की संख्या 1 करोड़ से ऊपर पहुंच चुकी है। अनुमान है कि कुल बेरोजगारी 4 करोड़ से भी ऊपर पहुंच चुकी है। (सरकारी आंकड़े बेरोजगारी की वास्तविक स्थिति को छिपाने की कोशिश करते हैं। योजना के दस्तावेजों में 1973 तक पूरी तरह बेरोजगारों की संख्या के 40 लाख होने का अनुमान लगाया गया था। कभी-कभी रोजगार पानेवालों को मिलाकर इन बेरोजगारों की संख्या का उनका अनुमान ही 1 करोड़ 86 लाख का था)।

एक तरफ अगर जमीन तथा पूंजी कुछ हाथों में इकट्ठी हो रही है तो दूसरी तरफ गरीबी और बेकारी बढ़ रही है। आजादी के बाद के तीस सालों के अंदर विकसित होने वाली यह एक वर्गीय सचाई है। सामाजिक भेदभाव के साथ ही अछूतों तथा दूसरे मेहनतकशों की जातियों तथा उपजातियों की समस्या आज आम भूमिहीनता तथा बेकारी की समस्या से तथा पूंजीवादी रास्ते के तहत सभी तबकों की बढ़ती हुई तबाही की समस्या से अविभाज्य रूप से जुड़ गयी है। शुरुआत के सालों में यह सचाई आसानी से समझ में नहीं आती थी, अब यह सचाई इतनी साफ है कि इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

जमीन का पुनर्वितरण करना और भूमि पर जमींदारों की—जिनमें से ज्यादातर उच्च जाति के हैं—इजारेदारी को खत्म करने का काम आज तमाम भूमिहीनों और बेरोजगारों की जरूरत बन गया है।

पिछड़ी हुई चेतना

मगर जो तबाह हो रहे हैं उनकी चेतना इस सचाई के एहसास से अभी पीछे है। लगता है कि एक संयुक्त संघर्ष के बजाय, जाति संघर्ष ज्यादा जोर पकड़ रहे हैं। आज एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ लड़ने के लिए खड़ा किया जा रहा है जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इस तरह के आपसी झगड़े आये दिन की चीज हो

चुके हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश में पिछड़े वर्ग के लिए नौकरियों में आरक्षण के विरोध में हो रहे उन आंदोलनों पर नजर डालिए जिनमें तोड़-फोड़ की जा रही है, वाहनों की होली जलायी जा रही है, और रेल की पटरियां उखाड़ी जा रही हैं। कुछ ऊंची जातियों के लोगों का यह विरोध प्रदर्शन समस्तीपुर में उस चुनाव के दौरान अपनी अति पर पहुंचा जब ऊपर से नीचे तक करीब-करीब ऊंची जातियों से ही भर्ती किये गये अफसरों ने इंदिरा कांग्रेस के उम्मीदवार की (जोकि सवर्ण था) हर तरह से मदद तो की ही, जनता पार्टी की सरकार के एक मंत्री को गिरफ्तार करने की धमकी तक दी।

सरकारी नीतियां निश्चित रूप से इस आम संघर्ष को मोड़कर जातियों के झगड़े की शक्ल देने में अपना योगदान दे रहीं हैं। पूंजीपति-भूस्वामी वर्ग इस तरह अपने वर्गीय शासन को मजबूत कर रहा है। जमीन, नौकरियों, सरकारी सुविधाओं कर्जों तथा शिक्षा के अवसरों के लिए वह प्रतिद्वंद्विता खासी तेज हो गयी है जो आसानी से जातिवादी रंगत हासिल कर लेती है। पिछली जातियों की समस्याओं—अछूतों तथा आदिवासियों के लिए नौकरियों में आरक्षण, पदोन्नतियों में आरक्षण तथा पदोन्नतियों में पिछली कमी को पूरा करने आदि—ने मेहनतकशों के बीच ही आपसी टकराव पैदा कर दिया है जिसका इस्तेमाल करके निहित स्वार्थ शोषित वर्ग की एकता में फूट डाल रहे हैं।

भूस्वामियों तथा इजारेदारों के स्वार्थों के साथ बंधी हुई, पूंजीपति-भूस्वामी सरकार, दमित जातियों के कुछ हिस्सों को छोटी-छोटी राहतें सरकारी नौकरियों में आरक्षण, कालेजों के दाखिलों में सीटों, शिक्षा में कुछ सुविधाओं तथा पदोन्नतियों में आरक्षण के आश्वासनों आदि को देकर गरीबी और बेरोजगारी की चुनौती को गलत दिशा में मोड़ने की कोशिश कर रही है।

जिस तरह की स्थितियां हैं, उनमें इन झुनझुनों से न तो बेरोजगारी तथा गरीबी की समस्याएं हल हो सकती हैं और न अछूतों तथा दूसरी दलित जातियों की स्थिति ही सुधर सकती है। इतना जरूर है कि इनसे इन समुदायों के कुछ व्यक्तियों को थोड़ी राहत मिलेगी, अपनी प्रगति में उनका विश्वास बढ़ेगा, लेकिन उनका सामाजिक दर्जा इससे नहीं बदलेगा। जहां तक शासक वर्गों का सवाल है, ये रियायतें उनके लिए एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। पहली बात तो यह है कि इनके जरिये वे नौकरियों आदि की आम प्रतियोगिता में मेहनतकशों के एक हिस्से को दूसरे के खिलाफ भिड़ा देते हैं। दूसरी बात यह है कि वे कुछ तबकों में यह भ्रम पैदा कर देते हैं कि सरकार उनकी सच्ची हमदर्द है और उन्हें चाहिए कि अपने संघर्षों को

पूंजीवादी ढांचे के अंदर ही सीमित रखें। इस तरह सबसे दलित वर्गों की ओर से वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थां को जो बुनियादी चुनौती दी जा सकती थी उसका रास्ता रोक दिया जाता है।

सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष

कहने की जरूरत नहीं कि आज, जबकि अछूतों तथा कुछ दूसरे तबकों के खिलाफ सरेआम पक्षपात किया जाता हो, जनवादी और मजदूर आंदोलन नौकरियों में आरक्षण तथा दूसरी सुविधाओं पर आपत्ति नहीं कर सकता। मेहनतकशों की एकता को मजबूत बनाने के लिए इनका समर्थन करना ही होगा।

इसके साथ ही साथ, मेहनतकशों के सभी हिस्सों को—चाहे वे किसी भी जाति के हों—यह सिखाना होगा कि इन झुनझुनों से कोई एक समस्या भी हल होनेवाली नहीं है। उनसे न तो दलित वर्गों की हालत बेहतर होगी और न उनकी बेकारी की समस्या ही हल होगी। इनसे मुख्य शत्रु की—भूस्वामियों तथा इजारेदारों—की ओर से शोषितों का ध्यान जरूर बंट सकता है। वर्तमान अनुकूल परिस्थितियों में आम वर्ग संघर्ष तभी चल सकता है जबकि जनवादी आंदोलन तथा किसान सभाएं जातिवादी प्रभुत्व के खिलाफ निरंतर विचारधारात्मक प्रचार करें और जातिगत उत्पीड़न के सवाल पर सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करें।

ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संघर्ष में तेजी शुरू भी हो चुकी है। अछूतों पर होनेवाले हमलों में से अनेक की वजह यह है कि वे पुराने भूदासों की तरह काम करने से इनकार करने लगे हैं और आधुनिक मजदूरों की तरह तय शर्तों पर काम करना चाहते हैं। अछूतों पर अत्याचारों को जन्म देनेवाले अनेक विवादों के पीछे मजदूरों का गतिशीलता, बेहतर मजूरी की मांग, आने जाने तथा भूमि पर खेती करने की स्वतंत्रता की मांग आदि भी एक कारण होती है। इन विवादों से छुआछूत के पीछे का असली आर्थिक आधार साफ प्रकट हो जाता है। ये संघर्ष वर्ग-संघर्ष का ही हिस्सा है और एकजुट होकर लड़ने की दरकार रखते हैं।

आगे बढ़ते हुए ट्रेड यूनियन आंदोलन को इस प्रश्न पर अपनी कमजोरी को दूर करके अपनी जिम्मेदारी पूरी तरह निभानी होगी। पदोन्नतियों तथा बकाया पदोन्नतियों के सवाल पर ट्रेड यूनियन आंदोलन को एक नयी समस्या का सामना करना पड़ रहा है। उसे वर्गीय एकजुटता की भावना को सुरक्षित रखते हुए इस समस्या का हल निकालना होगा।

इस नयी स्थिति की मांग है कि मेहनतकशों के बाकी हिस्सों से अलग-थलग

रहकर जातिगत लड़ाई चलाने की परंपरा को छोड़ा जाय। शुरुआत के दौर में दलित जातियों के आंदोलन को एक जाति के विरुद्ध दूसरी जातियों के आंदोलन के रूप में चलाने से बचा नहीं जा सकता था। अछूतों के सिलसिले में तो—जिन्हें मानवीय जीवन का अधिकार ही नहीं था—इसी तरह से आंदोलन चलाना निहायत जरूरी था, मगर इस परंपरा ने एक अलगाव की स्थिति पैदा कर दी है जिसकी वजह से इस सचाई पर भी पर्दा पड़ता है कि दूसरी जातियों में भी मेहनतकश हिस्से हैं जिन्हें उनके जातिवादी नेतृत्व से अलग करके अपने साथ लाना होगा और मिलजुलकर आम दुश्मन का सामना करना होगा। कुछ दलित जातियों के अवसरवादी तत्वों और निहित स्वार्थों की भी कोशिश होती है कि उनके पीछे चलने वाले लोग आम संघर्षों में शिरकत न करने पाएं और उनकी नेतागिरी चलती रहे। यह स्थिति बदलनी होगी। जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष में कमी न लाते हुए भी जनवाद और सामाजिक प्रगति के लिए आम संघर्ष में उन्हें अपने में शामिल करने की हर संभव कोशिश करनी चाहिए।

हमें यह समझना होगा कि वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था संपत्ति के संबंधों पर आधारित है। ये संपत्ति के संबंध ही जातिवादी तथा वर्गीय उत्पीड़न को बरकरार रखे हैं। यह सोचना अपने को धोखा देना है कि अर्थव्यवस्था पर भूस्वामियों तथा इजारेदारों के कब्जे को खत्म किये बिना और पूंजीवादी-सामंती सरकार के शासन को उखाड़े बिना छुआछूत या जातिवाद को मिटाया जा सकता है। जाति व्यवस्था के खात्मे का सवाल पूंजीपति-भूस्वामी वर्ग के खात्मे और समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ने के सवाल से जुड़ा हुआ है।

संदर्भ

1. कार्ल मॉक्र्स, ''द ब्रिटिश रूल इन इंडिया'', न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, (जून, 1883)।
2. वही।
3. रजनी पामदत्त, इंडिया टुडे, मनीषा, कलकत्ता : 1970, पृ० 327 ।
4. मोहनदास कर्मचंद गांधी, 'यंग इंडिया' (अक्टूबर, 1921)।
5. ''कालोनियल थीसिस'' सिक्स्थ कांग्रेस ऑव द कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, 1928 ।
6. ''मेमोरैन्डम आन नेशनल इंटीग्रेशन,'' 1968, सी० पी० आइ० (एम)।
7. मोहनदास कर्मचंद गांधी, ''द स्टोरी ऑव माइ एक्सपेरीमेंट्स विद ट्रूथ''।
8. वी आर आम्बेडकर, ''एड्रेस टू आल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासिज कांग्रेस'', 1930 ।
9. देखें : गेन ऑमवेत, ''कल्चरल रिवोल्ट इन ए कालोनियल सोसाइटी; द नाम ब्राह्मण

मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया'' बंबई : 1976 ।

10. एन० राम, ''प्रि-हिस्टरी एंड हिस्टरी ऑव द डी. एम. के.'', सोशल सांइटिस्ट, दिसंबर, 1977 ।
11. ड्राफ्ट फाइव ईयर प्लान, 1978-83, पृ. 11 (अंग्रेजी)।
12. वही, पृ. 2-3 ।

शैलेन्द्र शैली

शैलेन्द्र शैली एक समर्पित, संघर्षशील राजनीतिक कार्यकर्ता और चिंतक थे। वे ऐसे समाज की परिकल्पना करते थे जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो, जिसमें समाज के सभी लोग सम्मानपूर्वक जी सकें। वे शोषण विहीन और वर्गविहीन समाज के निर्माण के लिए प्रयासरत रहे। ऐसे समाज के लिए यह आवश्यक है कि मेहनत करने वाले लोगों में एकता बने। जाति प्रथा समाज को बांटती है और इससे इंसानियत को कम किया है। 'जाति क्यों नहीं जाती ?' उनका लेख जाति-प्रथा के बारे में समझ बनाने में महत्वपूर्ण है।

जाति क्यों नहीं जाती ?

नेटीजनों की डॉट काम दुनिया में हमारा भारत अब भी सड़ती हुयी वर्ण व्यवस्था को गले लगाये खड़ा है। विज्ञान आया, तकनीक आयी, उद्योग आये, लोकतंत्र आया, धर्मनिरपेक्षता आयी-परन्तु भारतीय समाज से जाति नहीं गयी। आधुनिककीकरण के बावजूद आखिरकार जाति क्यों नहीं जाती ?

इसलिए कि भारत में पूंजीवाद तो आया मगर उसने पूंजीवाद से पहले की सामंती दासत्व की व्यवस्थाओं की दल-दल साफ नहीं की। पूर्व पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक रिश्तों को राख किये बगैर, उन्हीं पर औद्योगिक पूंजीवाद की पर्ते चढ़ायी जाती रहीं।

जाति एक भ्रम है, एक दंभ है, एक मानसिक दासता है, एक मिथक है, एक अंधविश्वास है, एक रूढ़ि है। जाति एक चेतना है। मार्क्स ने कहा कि चेतना जब हृदय में घर कर जाती है तो भौतिक शक्ति बन जाती है। आधुनिकीकरण के बावजूद जाति की चेतना के न मिट पाने की एक वजह यही है। ढाई हजार साल में इस चेतना ने लोगों के दिलों में घर कर लिया है और वह स्वयंभू शक्ति बन गयी है। मनुष्य के चेतना जगत में, लंबे और दीर्घकालिक वैचारिक युद्ध के बाद ही उसकी जड़ें उखड़ सकती हैं।

विचित्र संस्था

किन्तु सामाजिक चेतना तो खुद सामाजिक परिस्थितियों की उपज होती है- जैसा एंगेल्स ने कहा था। जाति चेतना क्यों जीवित है और पीढ़ी दर पीढ़ी क्यों उसका पुर्नजन्म हो रहा है ? क्योंकि वे सामाजिक परिस्थितियां लगातार मौजूद हैं जो उसे फलने फूलने की जमीन मुहैया कराती हैं। जाति, भारतीय समाज की एक विचित्र संस्था है। इसमें समाज को कितने ही तबकों और हर तबके का कितने ही संस्तरों में बंटवारा कर दिया गया है। हर तबका स्वयं को एक जाति और उसका हर संस्तर स्वयं को उपजाति मानता है, जिसे कभी गोत्रों से, कभी उपनामों से तो कभी अपने क्षेत्रों की पहचानों से जाना जाता है। जाति की तीन मुख्य विशिष्टताएं होती हैं। सबसे पहले तो हर जाति की शुद्धता-अशुद्धता की अपनी मान्यताएं होती हैं। हर जाति स्वयं को कुछ जातियों से शुद्ध मानने और कुछ जातियों के अपने से भी ज्यादा शुद्ध होने की धारणा रखती हैं। इस पद सोपान में, शिखर पर ब्राह्मण जाति है जो किसी भी अन्य जाति को अपने से ज्यादा शुद्ध नहीं मानती और तल में चाण्डाल है जिनसे ज्यादा अशुद्ध और कोई जाति नहीं मानी जाती। दूसरी विशेषता इन संस्थाओं के अंतर्मुखी होने की है। हर जाति या उपजाति अपने सामाजिक व रस्मो-रिवाजी जीवन के संबंध में अपनी विशिष्ट पद्धतियां, शैलियां, रूप व परंपराएं अपनाती हैं। वैवाहिक संबंधों से लेकर दाह संस्कार तक हर जाति अपनी कुछ खास परंपराओं का पालन करती है। जाति उत्पीड़न व जाति असमानता के प्रति असंतुष्टि की भावनाएं स्वयं से उच्च जाति के प्रति तो होती हैं, लेकिन स्वयं से नीची समझी जाने वाली जाति के प्रति जातिवादी रुख ही बना रहता है।

पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धांत, चेतना के स्तर पर, जाति विभाजन को औचित्य प्रदान करता है और सुदृढ़ बनाता है, आत्मा के आवागमन की मान्यता के आधार पर, पुनर्जन्म की कल्पना की जाती है और पूर्व जन्मों के कर्मों से, वर्तमान जन्म की जाति का औचित्य सिद्ध किया जाता है।

आर्य सभ्यता के भारतीय भूखंड के उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ-ऋग्वेद के प्रारंभ में जाति के बजाय वर्णों की चर्चा होती है। वर्ण, वर्ग भी हो सकते हैं और रंग भी। किन्तु केवल दो ही वर्णों का जिक्र आता है-ब्राह्मन और विशू। जहां ब्राह्मन कबीले का मुखिया व पुरोहित दोनों है वहीं शेष सारी आबादी सिर्फ एक वर्ण-विश् में रख दी गई है। बहुत बाद में ऋग्वेद में जोड़ दिये गये पुरुष सूक्त में वर्णों की संख्या बढ़ाकर चार कर दी गई और ब्रह्मा के मुख्य से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पति बताकर, इन चारों वर्णों के पेशों व सामाजिक

हैसियत को परिभाषित किया गया और उन्हें जायज भी ठहराया गया। ईसा पूर्व तीन-चार सौ साल पहले से शुरू हुये दौर में, जाति-उपजाति विभाजनों का एक विराट पद सोपान तंत्र खड़ा हो गया जिसे वैधानिक रूप में मनुस्मृति ने सूत्रबद्ध कर डाला।

इधर इन अंतहीन विभाजनों और उनकी त्रासद अभिव्यक्तियों पर विवाद भी जारी रहे। गीता में कृष्ण से कहलवाया गया: चार्तुवर्ण मयां सृष्टं-गुण कर्म विभागश: (मैंने ही चार वर्णों की गुण व कर्म के विभाजन के आधार पर रचना की है।)

यहां कर्म-पूर्व जन्म के कर्म न होकर - सिर्फ कर्म हैं। इससे आभास मिलता है कि जन्म से या पूर्व जन्म के कर्म से जाति का जोड़ा जाना शुरू से मौजूदा नहीं था।

दूसरी और समाज में रूढ़ हो गयी वर्ण व्यवस्था और उसके उत्पीड़क व अमानवीय स्वरूप के खिलाफ - लोकायत की परंपरा में बौद्ध और जैन दृष्टिकोण उभरकर आये। बौद्धों और जैनों की कुछ शताब्दियों तक श्रेष्ठता कायम रहने के बाद ये दोनों धर्म भी शासक वर्गों के शिकंजे में चले जाने से आम जनता की पहुंच से बाहर निकल गये और सामंती आंगन में इन क्रांतिकारी और जनोन्मुखी धर्मों पर भी काई जमने लगी। वे, शोषण और अत्याचार से मुक्ति की जनआकांक्षाएं न रहकर, शासक वर्गों के आध्यात्मिक आत्म औचित्य और यहां तक कि व्यभिचार का हथियार बन गये। बस इसी मोड़ पर वर्ण व्यवस्था के ब्राह्मणवादी धर्म जिसे आज संघ परिवार हिंदू धर्म के नाम से पुकारता है-के कुचले हुए नाग ने पलट कर वार किया। बौद्ध और जैन धर्मों का सफाया कर दिया गया और ब्राह्मण धर्म के प्रभुत्व के साथ वर्ण व्यवस्था की पताका फिर लहराने लगी।

मुगलों के आने के साथ इस्लाम के समानता के दर्शन की नैतिक चोट से, भक्तिकालीन व सूफी धाराएं पनपीं जिन्होंने धार्मिक कूप मण्डूकता व वर्ण व्यवस्था की विद्रूप अमानवीयता पर प्रहार किया। दलितों के संत, कवि और दार्शनिक उभर कर सामने आये। सिख धर्म की नींव पड़ी जो स्वयं ही सामाजिक सुधार का एक नया आन्दोलन था। बहुत सी दलित जातियों ने खुद को आजाद करना चाहा, कुछ की हैसियत बढ़ी, कुछ कुचल दी गईं लेकिन - वर्ण व्यवस्था की बुनियाद नहीं हिल सकी। खुद मुगलों ने हुक्मनामे जारी कर अपने राज्यतंत्र को वर्णव्यवस्था से छेड़छाड़ करने की मनाही कर दी।

जब अंग्रेजों ने भारत में पूंजीवादी शोषण की व्यवस्था थोपना शुरू की तो उनका सामना भी वर्णव्यवस्था के पिशाच से हुआ। पूरे भारतीय समाज को एक बाजार में बदलने और सभी जातियों के लोगों को पूंजीवाद का चाकर बना देने की

गरज से अंग्रेजों ने, भारत की जातिवादी रूढ़ियों में कुछ फेरबदल की कोशिशें की। किन्तु 1857 के गदर के बाद से उनकी रणनीति में भी बदलाव आ गया। भारतीय जनता को दबाये रखने के लिए उसे बांट कर रखना जरूरी था। बीसवी सदी में भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के उभार के बाद तो जातीय विभाजनों को बरकरार रखना और उनका राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के लिए इस्तेमाल करना ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का हिस्सा बन गया। दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख नेतृत्व स्वयं पूर्णतः आधुनिक और जनवादी नजरिया अपनाने में असफल रहा। उस पर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की असरदार छाप रही और एक मौके पर स्वयं महात्मा गांधी तक ने स्वयं को सनातनी हिन्दू और वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक घोषित कर डाला। राष्ट्रीय नेतृत्व का यह वैचारिक पहलू, उनके सामंती शक्तियों को लुभाने या नाराज न करने की कार्यनीति से मेल खाता था।

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ लेकिन सामंती शक्तियों के साथ गठजोड़ बनाने की अंग्रेजी विरासत को नये शासक भारतीय पूंजीवादी वर्ग ने भी अपना लिया। स्वतंत्र भारत में सामंतवाद पर न तो आर्थिक क्षेत्र में भूमि सुधारों के जरिये निर्णायक चोट की गई और न ही सामंती चेतना को जनवादी व वैज्ञानिक चेतना के प्रसार से ध्वस्त किया गया।

नतीजा सामने है। आधुनिक भारत में भी जाति की बेड़ियां समाज को जकड़े हुए हैं और मानवीय गरिमा व मानव अधिकारों का निकृष्टतम हनन लगातार जारी है। अमरीका की सिलीकॉन वैली (कम्प्यूटर केंद्र) में नाम कमा रहे भारतीय नौजवान, कभी स्वेच्छा से तो कभी मजबूरी में, अपने गृहदेश में, जाति और गोत्रों की जकड़ बंदी में ही विवाह की रूढ़ियों पर चल रहे हैं।

सामाजिक परिस्थितियां

वे कौन सी सामाजिक परिस्थितियां थीं जिन्होंने इस दुर्दम्य राक्षस, जाति व्यवस्था को भारतीय समाज में जन्म दिया और जिससे टकराने के बजाये, समझौता कर लेने में ही मुगलों, अंग्रेजों और स्वतंत्र भारत के पूंजीवादी शासकों ने अपनी बेहतरी समझी ? क्यों यह व्यवस्था इतनी मजबूत है कि हिन्दू धर्म को ही छोड़ देने और बौद्ध, जैन, इस्लाम और ईसाई धर्म अपना लेने के बावजूद इन नवधर्मावलंबियों का भी इस जाति व्यवस्था ने पीछा नहीं छोड़ा ? क्यों अंततः नवबौद्ध, नव ईसाई या मुस्लिम समुदाय के पिछड़े और दलित तबके पुनः आरक्षण की मांग करने के लिए मजबूर हो गये ?

शुरूआती दौर में पेशों के हिसाब से वर्णों में बंटवारा हुआ होगा। तब पेशे बदलने की स्वतंत्रता रही होगी और जन्म या पूर्व जन्म के कर्मों के बजाय-मौजूदा कर्म और पेशे के आधार पर, वर्णों से लोगों की पहचान होने लगी होगी। लेकिन समाज में वर्गों के उदय और शोषण पर आधारित व्यवस्था के पनपने के साथ ही शासक वर्गों या वर्णों ने सबसे पहले, अपना पुश्तैनी हक बनाये रखने तथा कामगार वर्णों को काम से बांधे रखने के लिए, वर्णों को जाति का रूप देना शुरू किया होगा। जाति शासक वर्गों के हाथ में जनता को विभाजित और अधीन रखने का एक आध्यात्मिक और भौतिक अस्त्र बन गया होगा। भारत में दास प्रथा पर आधारित सामाजिक उत्पादन की रोम जैसी व्यवस्था नहीं रही। हालांकि दासों का जिक्र जरूर मिलता है। ध्वजाहृतो, भक्त दासों, गृहजा, क्रीत, दत्रिमो, दण्ड दासश्च, सप्तैत: दास यौनिय: (युद्ध में जीते गये, भक्ति भाव से बने, दास परिवार से आये, खरीदे गये, दान किये गये, पैत्रिक संपत्ति के रूप में प्राप्त और दण्ड स्वरूप बने सात प्रकार की दासों की योनियां होती हैं।)

फिर भी, भारत में समूची सामाजिक उत्पादन प्रणाली दासों के श्रम पर ही आधारित रही हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। दरअसल, दास प्रथा ने भारत में जो विशिष्ट रूप लिया वह जाति व्यवस्था ही थी जिसमें समाज में मेहनतकश वर्ग को शूद्रों और चाण्डालों की जाति श्रेणी में रखकर, सामंती प्रभुओं के अधीन होकर उत्पादन कार्य करने के लिए मजबूर कर दिया गया। रोम की तरह, हाथ पैरों में बेड़ियां डालने की बजाय भारतीय दासों के दिलो-दिमाग पर बेड़ियां डाल दी गयीं। शोषित वर्ग, प्रारब्ध या पूर्व जन्मों के कर्मों से अपनी दासता को औचित्यपूर्ण समझता रहा और बेड़ियां तोड़ने की जगह अगले जन्म में बेहतरी की आशाएं संजोये, बेडियों को भक्ति भाव से पहने रहा। जाति पर आधारित शोषित वर्गों की अधीनता की यह व्यवस्था शायद इसीलिये इतना लंबा जीवन भी जी सकी। सामंती व्यवस्था के विकास के साथ जाति व्यवस्था खत्म नहीं की गई बल्कि जाति व्यवस्था को सामंती उत्पादन प्रणाली के हित के लिये इस्तेमाल किया जाने लगा। इस जाति व्यवस्था के कारण ही ऐसे आत्म निर्भर ग्राम समाजों का उदय हुआ जहां हर पेशे का काम उपलब्ध था और जाति व्यवस्था के स्वचालित श्रम विभाजन के कारण, हर ग्राम समाज एक स्वायत्त अर्थव्यवस्था की तरह चल रहा था। शिखर पर सामंती प्रभुओं की कलह, युद्ध और परिवर्तनों से बेखबर, यह स्वायत्त अर्थव्यवस्था अपने आप में ही खोयी हुई सैकड़ों साल तक कायम रही। इससे एक ओर तो सामंतवाद को स्थिरता मिली और दूसरी ओर जाति व्यवस्था को बिना किसी गंभीर

चुनौती के समाज को जकड़े रखने का मौका मुहैया हुआ।

ग्रामीण समाजों के विस्तार के साथ जंगलों का सफाया हुआ और उनमें रह रही जनजातियां भी ग्रामीण समाजों के अधीन होती गईं। जंगलों में, अपनी अलग ही सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की गोद में सोये हुए इन आदिवासियों की नींद जब ग्रामीण और कस्बाई अर्थव्यवस्था के अतिक्रमण से खुली तो उन्होंने पाया कि वे भी हिंदू वर्णाश्रम व्यवस्था में शरीक कर लिये गये हैं। लेकिन एक नई दलित जाति के रूप में ही। इस तरह, आदिवासी समाजों के हिंदू वर्णाश्रम व्यवस्था में विलीनीकरण से दलित जातियों की नई-नई किस्में अस्तित्व में आती गयीं। इनमें से हर दलित जाति आर्थिक के साथ ही सामाजिक शोषण का शिकार बनती गयी। आदिवासियों की अपनी भाषा व संस्कृति है और वे प्रकृति उपासक हैं। हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था ने उनके बड़े हिस्से की यह स्वायत्तता छीन ली। किन्तु वर्णव्यवस्था का दलित हिस्सा बनने के बाद भी दलित जातियों ने अपने पूर्वजों की तमाम परंपराओं, रस्मों-रिवाजों और सांस्कृतिक जीवन को जारी रखा।

जाति विरोधी उभार

वर्ण व्यवस्था का वटवृक्ष इस तरह फैलता चला गया। वर्ण व्यवस्था एक जड़ सामाजिक संस्था थी, जिसे सामंती राज्य और हिन्दू कर्मकाण्डी धर्म-दर्शन का समर्थन हासिल था। आर्थिक के साथ वैचारिक दासता की यह प्रणाली मनुष्य को अपनी हीनता की स्थिति स्वीकार कराती थी और इस तरह वर्णाश्रमवादी व्यवस्था के भेदभाव व उत्पीड़न के खिलाफ विद्रोह की संभावनाओं को जनता के मस्तिष्क में ही कुचल डालती थी। इस आध्यात्मिक तानाशाही से, वर्णव्यवस्था को मिले इस स्थायित्व के बावजूद जाति प्रथा को हमेशा ही चुनौतियां मिलती रहीं। अधीनता, भेदभाव और उत्पीड़न के खिलाफ असंतोष उभरे और वर्णव्यवस्था की शिखर सत्ता को समय-समय पर, समझौते और समायोजन करने पड़े। भूपेंद्र नाथ दत्त ने बहुत पहले ही बंगाल के उदाहरणों से साबित किया था कि दक्षिण और उत्तर की कई गैर ब्राह्मण जातियां किस तरह संघर्ष करके ब्राह्मण बन गयीं। इसी प्रकार उत्तर पश्चिम में बसी तमाम दलित व चण्डाल जातियां भी लंबा संघर्ष चलाकर वर्ण व्यवस्था की निचली सीढ़ियों से कुछ ऊपर चढ़ गईं। पहले बौद्ध व जैन धर्म और फिर इस्लाम और ईसाई धर्म अपना कर भी बहुत सी दलित जातियों ने सामाजिक समानता व सम्मान हासिल करने की, कभी सफल तो कभी असफल कोशिशें कीं। भक्तिकाल वह एक और दौर था जब तमाम दलित संत, कवि और विचारक उभरकर सामने आ

गये और उन्होंने ईश्वर पर सबके समान हक के नाम पर वर्णाश्रम व्यवस्था को ललकारा, कर्मकाण्डी हिन्दू धर्म का मजाक उड़ाया और सत्ता, भ्रातृत्व और प्रेम का संदेश दिया।

भारत में औपनिवेशिक राज के साथ आधुनिकता, शिक्षा और विज्ञान का प्रसार हुआ और समाज में परस्पर संपर्क और संचार भी ज्यादा सुगम बना। अंतर्मुखी आत्मनिर्भर या कूपमंडूक ग्राम समाज की व्यवस्था में दरार पड़ने लगी। लोकतंत्र और भ्रातृत्व के पश्चिमी विचारों से प्रभावित भारतीय बुद्धिजीवियों में भी समाज सुधार की ललक पैदा हुई और स्वामी विवेकानंद, राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद विद्यासागर जैसी हस्तियों ने भक्तिकालीन संतों के मानवतावाद, पश्चिम के तर्कवाद और वैदिक दर्शन के बीच तालमेल बैठाने के प्रयास किये। जल्दी ही दलित जातियों में भी जागृति की नयी लहर पैदा हुई जिसने नारायण स्वामी, ज्योतिबा फुले, पेरियार और अंबेडकर जैसी हस्तियों को इतिहास के रंगमंच पर ला खड़ा किया। अंग्रेजों द्वारा जाति बिरादरी के नेताओं का मजमा जोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन में फूट डालने की कोशिशों से सशंकित, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी, गांधी जी की अगुआई में, हरिजन सेवा और अछूतोद्धार को अपने कार्यक्रम का हिस्सा बना लिया।

किन्तु औपनिवेशिक काल में दलित जातियों के आंदोलनों की दो बड़ी सीमाएं रहीं। भारतीय समाज और इसी के साथ राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व में, सवर्णों के प्रभुत्व से आशंकित, इनके जातिविरोधी नेताओं ने, अक्सर ही, स्वयं को साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन से ही काट लिया। दूसरी ओर दलित उत्पीड़न की आर्थिक बुनियाद, भूमि पर सामंती शिकंजे को तोड़ने की दिशा में बढ़ने से ये आंदोलन बचते रहे। लेकिन भारतीय जनता में साम्राज्यवाद विरोधी भावना इतनी तीव्र होती गयी कि जाति विभाजनों के बने रहते हुए भी देशभक्ति की लहर ने जनता को एकजुट कर दिया। स्वतंत्रता के साथ इस जनता ने अपने बेहतर भविष्य के सपने जोड़े थे। यही कारण है कि स्वतंत्र भारत के संविधान को सामाजिक-आर्थिक समानता के लक्ष्य को अपनाना पड़ा। परन्तु समतामूलक समाज के निर्माण के ये पवित्र लक्ष्य, सिर्फ संविधान के पन्नों की शोभा बढ़ाते रहे- देश पूंजीवादी रास्ते पर धकेला जाता रहा, आर्थिक असमानताएं तो बढ़ती ही गयीं- सामाजिक समानता के लिए जरूरी कदमों को भी नहीं उठाया गया। इनमें सबसे आवश्यक कदम था भूमिसुधार। देश की अस्सी फीसदी आबादी गांवों में थी और वहां उत्पादन के मुख्य साधन, भूमि पर भूस्वामियों का शिकंजा तोड़े बगैर आर्थिक समता की वह नींव नहीं डाली जा सकती थी- जिस पर कि सामाजिक समता का ढांचा खड़ा होता। ग्रामीण

जीवन पर भूस्वामियों व साहूकारों के प्रभुत्व से मुक्ति दिलाये बिना दलित जातियों को सामाजिक बराबरी नहीं मिल सकती थी। पेशे के चुनाव और आर्थिक विकास की स्वतंत्रता दिये बगैर दलित जातियों की सामंती व शोषक प्रभुओं पर पराधीनता को खत्म करना असंभव था। किन्तु यह सब नहीं हुआ क्योंकि पूंजीवादी-भूस्वामी शासक वर्ग यह सब कर नहीं सकते थे।

परिणामत: भारतीय समाज में जाति व्यवस्था हमारी प्रगति के रास्ते में रोड़ा बनी हुई थी और आज भी बनी हुई है। एक सामाजिक रूढ़ि और सामाजिक चेतना होने के बावजूद वह मार्क्स के शब्दों में एक 'भौतिक शक्ति' की हैसियत रखती है। मिसाल के तौर पर प्राचीन काल में जन्म से जुड़ी जाति और जाति से जुड़े पेशों के बंधनों के कारण विभिन्न व्यवसायों व श्रम कौशल के क्षेत्रों में श्रम की मुक्त आवाजाही को जाति प्रथा रोके रही। एक दार्शनिक बनने की क्षमता रखने वाला लुहार, लोहे का काम करने के लिए मजबूर रहा और एक लौह विशेषज्ञ बनने की कि क्षमता रखने वाला ब्राह्मण लुहार के पेशे को अपनाने से रोक दिया गया। प्रतिभाओं के मुक्त विचरण पर प्रतिबंध की यह व्यवस्था भारतीय समाज के वैज्ञानिक, तकनीकी और सांस्कृतिक विकास की एक प्रमुख बाधा बन गयी। इस प्रकार सिर्फ चेतना होते हुए भी इसने भौतिक शक्ति के रूप में हमारे सामाजिक विकास को प्रभावित किया। दूसरी ओर आध्यात्मिक व सामाजिक अधीनता की यह व्यवस्था सामंतवाद को भारत में लंबे समय तक टिकाये रखने की संजीवनी बन गयी। जब हमारे देश में सामंतवाद शिखर पर था तब पश्चिम में लोग भेड़ें चराया करते थे। मगर हमारे यहां सामंतवाद खिंचता ही चला गया जबकि पश्चिमी समाज, सामंतवाद से गुजरकर पूंजीवाद में प्रवेश कर गया।

दोहरी चोट

जाति व्यवस्था एक तरफ तो असमान आर्थिक क्षमताओं-विशेषकर भूमि संबंधों पर टिकी है और दूसरी ओर रुढ़िपंथी व कूप मंडूक सामंती विचारधारा से उसका पोषण हो रहा है। इन दोनों पर चोट किये बगैर जाति व्यवस्था को खत्म कर पाना नामुमकिन है। इसीलिए, आरक्षण की व्यवस्थाओं ने यद्यपि, दलित व पिछड़ी जातियों के कुछ हिस्सों को, अपनी हैसियत उठाने में मदद की, किन्तु समूचा दलित समुदाय आज भी सामाजिक रूप में उत्पीड़ित है और समूचा पिछड़ा समुदाय आर्थिक व शैक्षणिक रूप से दलित स्थिति में खड़ा है। इसीलिये, आरक्षण की इन व्यवस्थाओं को जारी रखना आज भी अत्यावश्यक बना हुआ है। लेकिन दलित और

पिछड़ी जातियों को पूर्ण सामाजिक समानता दिलाने का लक्ष्य, आर्थिक समानता हासिल करने के लक्ष्य से जोड़कर संघर्ष चलाने से ही हासिल किया जा सकता है। आर्थिक जनवाद के लिए जरूरी है कि सभी जातियों के शोषितों-पीड़ितों की विराट एकता कायम हो। दलित उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष और उन्हें आरक्षण सहित विभिन्न राहतें दिलाने के आंदोलन को इस तरह चलाना होगा कि, सभी जातियों के शोषितों की एकता का निर्माण किया जा सके। पूंजीवाद तो सवर्णों को भी बेकारी, गरीबी और बदहाली का शिकार बना रहा है। पूंजीवादी दल, बेकार और बदहाल सवर्ण जनता के असंतोष को आरक्षण के नाम पर दलित और पिछड़े समुदाय की शोषित जनता के खिलाफ मोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। इससे पूंजीवाद तो सुरक्षित हो जाता है मगर शोषितों की एकता टूट जाती है। इसीलिये वे पिछड़े तबके भी जो सामाजिक रूप से उत्पीड़ित न होकर मुख्यत: आर्थिक शैक्षणिक पिछड़ेपन से त्रस्त हैं- आरक्षण के हकदार हैं। किन्तु इन तबकों की ऊपरी सतह, जो अपना विकास कर चुकी है, उसे आरक्षण से बाहर रखना उचित है ताकि यह लाभ इन तबकों के भी वास्तविक गरीबों तक पहुंचे। इसी के साथ ही, आर्थिक गरीबों, चाहे वे सवर्ण ही क्यों न हों के एक हिस्से को भी आरक्षण दिया जाना चाहिए। किन्तु जहां तक दलितों का प्रश्न है उन्हें समूचे तौर पर आरक्षण देते रहने की जरूरत है क्योंकि सिर्फ आर्थिक-शैक्षणिक हैसियत बढ़ जाने से उनका सामाजिक अपमान किया जाना बंद नहीं होता। जब तक ऊंच-नीच की विचारधारा कायम है उनका यह अपमान जारी रहने वाला है। अब तो भारत का सर्वोच्च न्यायालय भी आरक्षण के संबंध में इसी नीति को जायज करार दे चुका है।

लेकिन दुर्भाग्य से, जातिवादी ध्रुवीकरण के आधार पर राजनीति करने पर जोर बढ़ता जा रहा है। दलित व पिछड़ी जातियों के नेता, पूर्ण आर्थिक व सामाजिक समानता के लक्ष्य के लिए संघर्ष करने के बजाए वोट बैंक की राजनीति कर, जाति चेतना को और मजबूत कर रहे हैं। शोषितों की एकता बिखर रही है। और जाति व्यवस्था को खत्म करने की मंजिल दूर खिसकती जा रही है। किन्तु इस संकीर्णतावादी जातिवादी राजनीति को बेनकाब करने के बावजूद, इस राजनीति की तरफ आकर्षित हो रही दलित व पिछड़ी जनता की मुक्ति की जो भावनाएं हैं, उन्हें अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

एक ही रास्ता है कि भूमि सुधार और आर्थिक समानता के लिये सभी शोषितों की व्यापक एकता बनायी जाये। यह एकता तभी बन सकती है जब हम जाति पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ समझौता हीन संघर्ष

चलाएं। हमारे लिये यह एक इम्तिहान है। क्या हम रूढ़ियों को तोड़कर, एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिये, हर तरह की कुर्बानी देने को तैयार हैं ? इस प्रश्न के उत्तर पर ही टिका है भारतीय समाज का भविष्य और इसी से होगा जाति कुप्रथा की जिन्दगी और मौत का फैसला।